

Chapter एक

समदर्शी भगवान्

इस अध्याय में महाराज परीक्षित के एक प्रश्न के उत्तर में शुकदेव गोस्वामी अपना निर्णय देते हैं कि किस तरह भगवान् ने परमात्मा, सखा तथा हरेक के रक्षक होते हुए भी, स्वर्ग के राजा इन्द्र के निमित्त दैत्यों का वध किया। वे अपने कथनों में उन लोगों के तर्कों का पूरी तरह खंडन करते हैं, जो भगवान् पर पक्षपात करने का दोषारोपण करते हैं। शुकदेव गोस्वामी सिद्ध करते हैं कि चूँकि बद्धजीव का शरीर प्रकृति के तीन गुणों से संदूषित है, अतएव उसमें शत्रुता तथा मित्रता, आसक्ति तथा विरक्ति जैसे द्वैत भावों का उदय होना स्वाभाविक है। किन्तु परमेश्वर में इस प्रकार के द्वैत भाव नहीं होते। यहाँ तक कि शाश्वत काल भी भगवान् के कार्यकलापों को नियंत्रित नहीं कर सकता। शाश्वत काल भगवान् द्वारा ही सृजित है, अतएव वह उन्हीं के वशीभूत होकर कार्य करता रहता है। भगवान् सदैव प्रकृति के गुणों के प्रभाव अर्थात् अपनी उस बहिरंगा शक्ति माया के प्रभाव से परे रहते हैं, जो सृष्टि तथा प्रलय का कार्य करती है। इस तरह परमेश्वर द्वारा मारे गये सारे दैत्य या असुर तुरन्त ही *मोक्ष-लाभ* करते हैं।

परीक्षित महाराज द्वारा पूछा गया दूसरा प्रश्न शिशुपाल के विषय में है कि यद्यपि वह कृष्ण के बचपन से ही उनके प्रति शत्रु-भाव रखता था तथा कृष्ण की निन्दा किया करता था फिर भी जब कृष्ण ने उसका वध किया तो वह कृष्ण में लीन होकर मोक्ष पा गया। शुकदेव गोस्वामी बताते हैं कि भक्तों के चरणों पर अपराध करने के कारण वैकुण्ठ में भगवान् के दो द्वारपाल, जिनके नाम जय तथा विजय थे, सत-युग में हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष बने। फिर अगले युग—त्रेतायुग—में वे ही रावण तथा कुम्भकर्ण बने और द्वापर युग के अन्त में शिशुपाल तथा दन्तवक्र बने। अपने सकाम कर्मों से जय तथा विजय ने भगवान् के शत्रु बने रहना स्वीकार किया और जब उसी मनोवृत्ति में उनका वध हुआ तो उन्हें सायुज्य मोक्ष प्राप्त हुआ। इस तरह यदि कोई ईर्ष्यावश भी भगवान् का चिन्तन करता है, तो उसे मोक्ष प्राप्त होता है। तो फिर उन भक्तों के विषय में क्या कहा जाये जो प्रेम तथा श्रद्धापूर्वक भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं ?

श्रीराजोवाच

समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मभूतानां भगवान्स्वयम् ।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमो यथा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—महाराज परीक्षित ने कहा; समः—समान; प्रियः—प्रिय; सुहृत्—मित्र; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (शुकदेव); भूतानाम्—समस्त जीवों के; भगवान्—परमेश्वर, विष्णु; स्वयम्—स्वयं; इन्द्रस्य—इन्द्र के; अर्थे—लाभ के लिए; कथम्—कैसे; दैत्यान्—असुरों को; अवधीत्—मारा; विषमः—पक्षपात; यथा—मानो ।

राजा परीक्षित ने पूछा : हे ब्राह्मण, भगवान् विष्णु सबों के शुभचिन्तक होने के कारण हर एक को समान रूप से अत्यधिक प्रिय हैं, तो फिर उन्होंने किस तरह एक साधारण मनुष्य की भाँति इन्द्र का पक्षपात किया और उसके शत्रुओं को मारा? सबों के प्रति समभाव रखने वाला व्यक्ति कुछ लोगों के तरह किसी के प्रति पक्षपात करेगा और अन्यो के प्रति शत्रु-भाव रखेगा?

तात्पर्य : भगवद्गीता (९.२९) में भगवान् कहते हैं—*समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति न प्रियः*—“मैं सबों पर समभाव रखता हूँ; न तो कोई मुझे प्रिय है, न कोई मेरा शत्रु है” किन्तु पिछले स्कन्ध में यह देखा गया है कि भगवान् ने इन्द्र के लिए असुरों का वध करके उसका पक्षपात किया (*हतपुत्रा दितिः शक्रपार्ष्णिग्राहेण विष्णुना*) । अतएव भगवान् स्पष्टतः इन्द्र के पक्षधर थे यद्यपि वे सबों के हृदय में स्थित परमात्मा हैं। जिस तरह सबों को आत्मा अत्यन्त प्रिय है उसी प्रकार सबों को परमात्मा भी प्रिय हैं। अतएव परमात्मा से कोई त्रुटि नहीं हो सकती। रूप तथा स्थिति का विचार किये बिना भगवान् सभी जीवों के प्रति सदैव दयालु रहते हैं फिर भी उन्होंने एक सामान्य मित्र की भाँति इन्द्र का पक्ष-समर्थन किया। यही परीक्षित महाराज की जिज्ञासा का विषय था। कृष्ण-भक्त के रूप में वे यह भली-भाँति जानते थे कि कृष्ण किसी का पक्षपात नहीं करते किन्तु जब उन्होंने देखा कि कृष्ण ने दैत्यों के साथ शत्रु की भाँति आचरण किया तो उन्हें कुछ सन्देह होने लगा। अतएव उन्होंने स्पष्ट उत्तर जानने के लिए शुकदेव गोस्वामी से यह प्रश्न पूछा।

भक्त यह कभी स्वीकार नहीं करेगा कि भगवान् विष्णु में भौतिक गुण होते हैं। महाराज परीक्षित भली-भाँति जानते थे कि दिव्य होने के कारण भगवान् विष्णु को भौतिक गुणों से कुछ लेना-देना नहीं है किन्तु अपने इस विचार की पुष्टि के लिए वे प्रामाणिक पुरुष शुकदेव गोस्वामी से सुनना चाहते थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*समस्य कथं वैषम्यम्—चूँकि भगवान् समदर्शी हैं, अतएव वे किसी का पक्ष ग्रहण क्यों करेंगे? प्रियस्य कथम् असुरेषु प्रीत्यभावः।* परमात्मा होने के कारण भगवान्

प्रत्येक को अत्यन्त प्रिय हैं। तो फिर भगवान् असुरों के प्रति निष्ठुरता क्यों बरतने लगे? यह पक्षपात किसलिए? *सुहृदश्च कथं तेष्वसौहार्दम्।* चूँकि भगवान् कहते हैं कि वे *सुहृदं सर्वभूतानाम्* अर्थात् समस्त जीवों के शुभचिन्तक हैं, तो फिर उन्होंने दैत्यों का वध करके पक्षपात क्यों करते हैं? ये प्रश्न परीक्षित महाराज के मन में उठे अतएव उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से प्रश्न किया।

न ह्यस्यार्थः सुरगणैः साक्षात्त्रिःश्रेयसात्मनः ।
नैवासुरेभ्यो विद्वेषो नोद्वेगश्चागुणस्य हि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; अस्य—उनके; अर्थः—लाभ, हित; सुर-गणैः—देवताओं के साथ; साक्षात्—स्वयं; निःश्रेयस—सर्वोच्च वरदान का; आत्मनः—जिसका स्वभाव; न—नहीं; एव—निश्चय ही; असुरेभ्यः—असुरों के लिए; विद्वेषः—ईर्ष्या, द्वेष; न—नहीं; उद्वेगः—भय; च—तथा; अगुणस्य—भौतिक गुणों से रहित; हि—निश्चय ही।

भगवान् विष्णु साक्षात् भगवान् तथा समस्त आनन्द के आगार हैं; अतएव उन्हें देवताओं का पक्ष-ग्रहण करने से क्या लाभ मिलेगा? इस प्रकार उनका कौन सा स्वार्थ सधेगा? जब भगवान् दिव्य हैं, तो फिर उन्हें असुरों से भय कैसा? और उनसे ईर्ष्या कैसी?

तात्पर्य : हमें आध्यात्मिक तथा भौतिक के अन्तर को सदैव स्मरण रखना चाहिए। जो भौतिक है, वह भौतिक गुणों द्वारा संदूषित रहता है किन्तु जो आध्यात्मिक या दिव्य है उसे ये गुण छू तक नहीं पाते। कृष्ण चाहे भौतिक जगत में रहें या आध्यात्मिक जगत में, वे रहते हैं परम ही। जब हमें कृष्ण में पक्षपात दिखता है, तो यह दृष्टि उनकी बहिरंगा शक्ति के कारण होती है। अन्यथा उनके शत्रु उनके द्वारा वध किये जाने पर किस तरह मोक्ष प्राप्त कर सके? प्रत्येक व्यक्ति जो भगवान् से आदान-प्रदान करता है धीरे-धीरे भगवान् के गुण अर्जित कर लेता है। जो आध्यात्मिक चेतना में जितनी अधिक प्रगति कर लेता है, वह भौतिक गुणों के द्वन्द्व (द्वैत) से उतना ही कम प्रभावित होता है। अतएव परमेश्वर निश्चित रूप से इन गुणों से मुक्त होते हैं। उनकी शत्रुता तथा मित्रता भौतिक शक्ति द्वारा प्रस्तुत किये गये बाह्यगुण हैं। भगवान् तो नित्य दिव्य हैं, वे परम निरपेक्ष हैं, चाहे वे मारें या वर दें।

ईर्ष्या तथा मैत्री-भाव का उदय उसी में होता है, जो अपूर्ण है। हम अपने शत्रुओं से भयभीत रहते हैं क्योंकि इस भौतिक जगत में हमें सदैव सहायता की आवश्यकता बनी रहती है। किन्तु भगवान् को किसी की भी सहायता नहीं चाहिए, क्योंकि वे आत्माराम हैं। *भगवद्गीता* (९.२६) में भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

“यदि कोई भक्त मुझे भक्तिपूर्वक एक पत्ता, एक फूल, फल या जल प्रदान करता है, तो उसे मैं स्वीकार करता हूँ।” भगवान् ऐसा क्यों कहते हैं? क्या वे भक्त की भेंट पर आश्रित हैं? वास्तव में वे आश्रित नहीं हैं किन्तु वे अपने भक्त पर आश्रित रहना पसन्द करते हैं। यह उनकी कृपा है। इसी प्रकार वे असुरों से डरते नहीं। अतएव भगवान् द्वारा पक्षपात करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

इति नः सुमहाभाग नारायणगुणान्प्रति ।

संशयः सुमहाञ्जातस्तद्भवांश्छेत्तुमर्हति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; नः—हमारा; सु-महा-भाग—हे भाग्यवान्; नारायण-गुणान्—नारायण के गुणों के; प्रति—प्रति; संशयः—सन्देह; सु-महान्—अत्यन्त महान्; जातः—उत्पन्न; तत्—वह; भवान्—आप; छेत्तुम् अर्हति—कृपया दूर कर दें।

हे सौभाग्यशाली तथा विद्वान् ब्राह्मण, यह अत्यन्त सन्देहास्पद विषय बन गया है कि नारायण पक्षपातपूर्ण हैं या निष्पक्ष हैं? कृपया निश्चित साक्ष्य द्वारा मेरे इस सन्देह को दूर करें कि नारायण सर्वदा उदासीन तथा सबों के प्रति सम हैं।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् नारायण परम हैं, अतएव उनके दिव्य गुणों का वर्णन एक-सा है। इस तरह उनके द्वारा दिये गये दण्ड तथा वरदान दोनों का एक-सा महत्त्व है। मूलतः उनके शत्रुतापूर्ण कार्य उनके तथाकथित शत्रुओं के प्रति शत्रुता के प्रदर्शन नहीं होते, किन्तु भौतिक जगत में लोग सोचते हैं कि कृष्ण भक्तों के प्रति अनुकूल हैं और अभक्तों के प्रतिकूल हैं। जब भगवद्गीता में कृष्ण अन्तिम रूप से सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज का उपदेश देते हैं, तो यह केवल अर्जुन के लिए ही नहीं है अपितु इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक जीव के लिए है।

श्रीऋषिरुवाच

साधु पृष्ठं महाराज हरेश्चरितमद्भुतम् ।

यद्भागवतमाहात्म्यं भगवद्भक्तिवर्धनम् ॥ ४ ॥

गीयते परमं पुण्यमृषिभिर्नारदादिभिः ।

नत्वा कृष्णाय मुनये कथयिष्ये हरेः कथाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; साधु—सर्वश्रेष्ठ; पृष्टम्—प्रश्न; महा-राज—हे महान् राजा; हरेः—परमेश्वर, हरि के; चरितम्—कार्यकलाप; अद्भुतम्—अद्भुत; यत्—जिससे; भागवत—भगवान् के भक्त (प्रह्लाद) का; माहात्म्यम्—यश; भगवत्-भक्ति—भगवान् की भक्ति को; वर्धनम्—बढ़ाने वाली; गीयते—गाई जाती है; परमम्—अग्रणी; पुण्यम्—पवित्र; ऋषिभिः—ऋषियों के द्वारा; नारद-आदिभिः—नारद आदि द्वारा; नत्वा—नमस्कार करके; कृष्णाय—कृष्णद्वैपायन व्यास को; मुनये—मुनि; कथयिष्ये—मैं कह सुनाऊँगा; हरेः—हरि की; कथाम्—कथाएँ।

महामुनि शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा, आपने मुझसे अतीव श्रेष्ठ प्रश्न किया है। भगवान् के कार्यकलापों से सम्बन्धित कथाएँ, जिनमें उनके भक्तों के भी यशों का वर्णन रहता है, भक्तों को अत्यन्त भाने वाली हैं। ऐसी अद्भुत कथाएँ सदैव भौतिकतावादी जीवनशैली के कष्टों का निवारण करने वाली होती हैं। अतएव नारद-जैसे मुनि श्रीमद्भागवत के विषय में सदैव उपदेश देते रहते हैं, क्योंकि इससे मनुष्य को भगवान् के अद्भुत कार्यकलापों के श्रवण तथा कीर्तन की सुविधा प्राप्त होती है। अब मैं श्रील व्यासदेव को सादर प्रणाम करके भगवान् हरि के कार्यकलापों से सम्बन्धित कथाओं का वर्णन प्रारम्भ करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी सादर नमस्कार करते हैं कृष्णाय मुनये को जिसका अर्थ है कि वे कृष्ण द्वैपायन व्यास को नमस्कार करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह सर्वप्रथम अपने गुरु को सादर नमस्कार करे। शुकदेव गोस्वामी के गुरु उनके पिता व्यासदेव हैं, अतएव वे सर्वप्रथम कृष्ण द्वैपायन व्यास को सादर नमस्कार करते हैं; तब वे भगवान् हरि की कथा का वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं।

जब भी हमें भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को सुनने का अवसर प्राप्त हो तो हमें चाहिए कि उसका लाभ उठाएँ। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कीर्तनीयः सदा हरिः की संस्तुति की अर्थात् मनुष्य को सदैव भगवान् कृष्ण के विषय में कीर्तन करके, उनके विषय में बातें करके तथा उनके विषय में सुन करके कृष्ण कथा में लगे रहना चाहिए। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का एकमात्र धर्म यही है।

निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तो भगवान्प्रकृतेः परः ।
स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

निर्गुणः—भौतिक गुणों से रहित; अपि—यद्यपि; हि—निश्चय ही; अजः—अजन्मा; अव्यक्तः—अप्रकट; भगवान्—परमेश्वर; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति से; परः—दिव्य; स्व-माया—अपनी शक्ति के; गुणम्—भौतिक गुण में; आविश्य—प्रवेश करके; बाध्य—बाध्य; बाधकताम्—बाध्य होने की स्थिति; गतः—स्वीकार करता है।

भगवान् विष्णु सदा भौतिक गुणों से परे रहने वाले हैं अतएव वे निर्गुण कहलाते हैं। अजन्मा

होने के कारण उनका शरीर राग तथा द्वेष से प्रभावित नहीं होता। यद्यपि भगवान् सदैव भौतिक जगत से ऊपर हैं, किन्तु अपनी आध्यात्मिक (परा) शक्ति से वे प्रकट हुए और बद्धजीव की भाँति कर्तव्यों तथा दायित्वों (बाध्यताओं) को ऊपर से स्वीकार करके उन्होंने सामान्य मनुष्य की भाँति कार्य किया।

तात्पर्य : तथाकथित आसक्ति, विरक्ति तथा दायित्व (बाध्यताएँ) भौतिक प्रकृति से सम्बन्धित हैं, जो भगवान् से उद्भूत हैं, किन्तु जब भगवान् इस भौतिक जगत में अवतरित होकर कर्म करते हैं, तो वे अपने आध्यात्मिक पद पर स्थित होकर ऐसा करते हैं। यद्यपि भौतिक दृष्टि से उनके कार्यकलाप भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु वे परम तथा अभिन्न होते हैं। अतएव यह कहना कि वे किसी से ईर्ष्या करते हैं या मित्रता बरतते हैं परमेश्वर पर दोषारोपण करना है।

भगवद्गीता (९.११) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख लोग मेरा उपहास करते हैं। इस धरा पर या इस ब्रह्माण्ड के भीतर कृष्ण अपने आध्यात्मिक शरीर या आध्यात्मिक गुणों में किसी परिवर्तन के बिना प्रकट होते हैं। निःसन्देह, वे कभी भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते। वे ऐसे गुणों से सदा मुक्त रहते हैं, किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि वे भौतिक गुणों से प्रभावित हैं। यह समझ आरोपित है। अतएव कृष्ण कहते हैं *जन्म कर्म च मे दिव्यम्*—वे जो भी करते हैं सदैव दिव्य होने के कारण उसे भौतिक गुणों से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। *एवं यो वेत्ति तत्त्वतः*—वे जिस तरह के कर्म करते हैं उसे केवल भक्तगण ही समझ सकते हैं। तथ्य तो यह है कि कृष्ण किसी का पक्षपात नहीं करते। वे सबों के लिए समभाव रखते हैं, लेकिन भौतिक गुणों से प्रभावित अपूर्ण दृष्टि के कारण लोग कृष्ण पर भौतिक गुणों का आरोप करते हैं और जब कोई ऐसा करता है, तो वह मूढ या मूर्ख बन जाता है। जब कोई ठीक से सत्य को समझ लेता है, तो वह भक्त तथा भौतिक गुणों से मुक्त अर्थात् *निर्गुण* बन जाता है। मात्र कृष्ण के कार्यकलापों को समझ कर कोई दिव्य बन सकता है और ज्योंही वह दिव्य बन जाता है, तो वह दिव्य जगत में जाने के योग्य बन जाता है। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*—जो भगवान् के कार्यकलापों को ठीक से समझता है, वह शरीर त्यागने के बाद दिव्य जगत (वैकुण्ठ) को चला जाता है।

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।

न तेषां युगपद्राजन्हास उल्लास एव वा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—इस प्रकार; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति के; न—नहीं; आत्मनः—आत्मा के; गुणाः—गुण; न—नहीं; तेषाम्—उनके; युगपत्—एकसाथ; राजन्—हे राजा; हासः—कमी; उल्लासः—प्रधानता; एव—निश्चय ही; वा—अथवा ।

हे राजा परीक्षित, सत्व, रज, तम—ये तीनों भौतिक गुण भौतिक जगत से सम्बद्ध हैं, अतः ये भगवान् को छू तक नहीं पाते। ये तीनों गुण एकसाथ बढ़ या घट कर कार्य नहीं कर सकते।

तात्पर्य : भगवान् की मूल स्थिति समभाव (समानता) की है। वे सतो, रजो वा तमोगुण से तनिक भी प्रभावित नहीं होते क्योंकि ये भौतिक गुण उनका स्पर्श तक नहीं कर पाते। अतएव भगवान् को परम ईश्वर कहा जाता है। ईश्वरः परमः कृष्णः—वे परम नियन्ता हैं। वे भौतिक गुणों का नियंत्रण करते हैं (दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया)। मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते—प्रकृति अर्थात् भगवान् के आदेश पर कार्य करती है। तो फिर वे प्रकृति के गुणों के अधीन कैसे हो सकते हैं? वे प्राकृतिक गुणों से प्रभावित कैसे हो सकते हैं? अतएव भगवान् द्वारा पक्षपात किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीत्रजसोऽसुरान् ।

तमसो यक्षरक्षांसि तत्कालानुगुणोऽभजत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

जय-काले—प्रसिद्धि के समय में; तु—निस्मन्देह; सत्त्वस्य—सतोगुण का; देव—देवताओं; ऋषीन्—तथा ऋषियों को; रजसः—रजोगुण का; असुरान्—असुरों को; तमसः—तमोगुण का; यक्ष-रक्षांसि—यक्षों तथा राक्षसों को; तत्-काल-अनुगुणः—विशेष अवसर के अनुकूल; अभजत्—अपनाया ।

जब सतोगुण प्रधान होता है, तो ऋषि तथा देवता उस गुण के बल पर समुन्नति करते हैं जिससे वे परमेश्वर द्वारा प्रोत्साहित एवं प्रेरित किये जाते हैं। इसी प्रकार जब रजोगुण प्रधान होता है, तो असुरगण फूलते-फलते हैं और जब तमोगुण प्रधान होता है, तो यक्ष तथा राक्षस समृद्धि पाते हैं। भगवान् प्रत्येक के हृदय में स्थित रह कर सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के फलों को पुष्ट करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् किसी का पक्ष नहीं लेते। बद्धजीव प्रकृति के विभिन्न गुणों के वशीभूत रहता है और प्रकृति के पीछे भगवान् का हाथ रहता है, किन्तु किसी की विजय तथा हानि सतोगुण, रजोगुण

तथा तमोगुण के फल हैं। भगवान् के पक्षपात के नहीं बरतते। श्रील जीवगोस्वामी *भागवत-सन्दर्भ* में स्पष्ट करते हैं :

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः ।

स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु ॥

ह्लादिनी सन्धिनी सम्बित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ ।

ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ॥

भागवत सन्दर्भ के इस कथन के अनुसार भगवान् सदैव भौतिक गुणों से परे रहते हैं और इन गुणों से कभी प्रभावित नहीं होते। यही गुण जीव में भी पाया जाता है, लेकिन चूँकि वह प्रकृति द्वारा बद्ध है, अतएव भगवान् की ह्लादिनी शक्ति भी बद्धजीव के लिए कष्टकारक होती है। भौतिक जगत में बद्धजीव द्वारा भोगे गये सुख के साथ-साथ अनेक कष्ट आते हैं। उदाहरणार्थ, हमने दो महायुद्ध देखे हैं, जो रजोगुण तथा तमोगुण के द्वारा संचालित थे और इसमें दोनों ही पक्ष वास्तव में विनष्ट हो गए। जर्मनी ने अंग्रजों के विरुद्ध युद्ध छेड़ा था जिससे वे विनष्ट हो जाँए, किन्तु परिणाम यह हुआ कि दोनों ही पक्ष विनष्ट हो गये। भले ही कागज पर सही, मित्र राष्ट्र विजयी तो हुए किन्तु वस्तुतः उनमें से कोई विजयी नहीं हुआ। अतः हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि भगवान् किसी का पक्षपात नहीं करते। हर व्यक्ति प्रकृति के विविध गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत कर्म करता है और जब विविध गुण प्रधान हो जाते हैं, तो देवता या असुर विविध गुणों के प्रभाव से विजयी प्रतीत होते हैं।

हर व्यक्ति अपने-अपने सगुण कर्मों का फल भोगता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.११-१३) में भी हुई है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

“सतोगुण के प्रकाट्यों का अनुभव तब होता है जब शरीर के सभी द्वार ज्ञान द्वारा आलोकित हो जाते हैं।”

हे भारतश्रेष्ठ! जब रजोगुण में वृद्धि होती है, तो अत्यधिक आसक्ति, अदम्य इच्छा, लालसा तथा अतीव उद्योग के लक्षण उत्पन्न होते हैं।”

हे कुरुनन्दन! जब तमोगुण में वृद्धि होती है, तो अज्ञान उन्मत्तता, मोह, जड़ता तथा अंधकार प्रकट होते हैं।”

प्रत्येक हृदय में वास करने वाले भगवान् विभिन्न गुणों की वृद्धि से होने वाले फलों को ही देते हैं; वे निष्पक्ष हैं। वे लाभ तथा हानि का निरीक्षण करते हैं, किन्तु उसमें हाथ नहीं लगाते।

प्रकृति के गुण एकसाथ कार्यशील नहीं होते। इन गुणों की अन्योन्य क्रियाएँ ऋतु-परिवर्तनों की भाँति हैं। कभी रजोगुण में वृद्धि होती है, तो कभी तमोगुण में और कभी-कभी सतोगुण में। सामान्य रूप से देवताओं में सत्त्वगुण पाया जाता है, अतएव जब असुर तथा देवता युद्ध करते हैं, तो देवताओं की विजय होती है, क्योंकि उनमें सत्त्वगुण का प्राधान्य रहता है। किन्तु यह भगवान् का पक्षपात नहीं है।

ज्योतिरादिरिवाभाति सङ्घातान्न विविच्यते ।

विदन्त्यात्मानमात्मस्थं मथित्वा कवयोऽन्ततः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ज्योतिः—अग्नि; आदिः—तथा अन्य तत्त्व; इव—सदृश; आभाति—प्रतीत होती हैं; सङ्घातात्—देवताओं तथा अन्यो के शरीरों से; न—नहीं; विविच्यते—पहचाने जाते हैं; विदन्ति—अनुभव करते हैं; आत्मानम्—परमात्मा को; आत्म-स्थम्—हृदय में स्थित; मथित्वा—विलग करके; कवयः—दक्ष चिन्तक; अन्ततः—भीतर।

सर्वव्यापी भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित रहते हैं और एक कुशल चिन्तक ही अनुभव कर सकता है कि वे अधिक या न्यून मात्रा में कैसे वहाँ उपस्थित हैं। जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि, जलपात्र में जल या घड़े के भीतर आकाश को समझा जा सकता है उसी प्रकार जीव की भक्तिमयी क्रियाओं को देखकर यह समझा जा सकता है कि वह जीव असुर है या देवता। विचारशील व्यक्ति किसी मनुष्य के कर्मों को देखकर यह समझ सकता है कि उस मनुष्य पर भगवान् की कितनी कृपा है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१०.४१) में भगवान् कहते हैं—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमद् ऊर्जितमेव वा ।

तद् तद् एवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥

“यह जान लो कि सारी सुन्दर, यशस्वी तथा बलशाली सृष्टियाँ मेरे तेज के केवल एक स्फुलिंग से उत्पन्न होती हैं।” हमें यह व्यावहारिक अनुभव है कि एक व्यक्ति अद्भुत से अद्भुत कार्य कर लेता है, किन्तु दूसरा व्यक्ति उन्हीं कार्यों को और यहाँ तक कि ऐसे कार्यों को जिसमें थोड़े से सामान्य ज्ञान की आवश्यकता होती है नहीं कर पाता। अतएव भगवान् ने किसी भक्त का कितना पक्ष-समर्थन किया है, वह भक्त द्वारा सम्पन्न कार्यों से ही आँका जा सकता है। *भगवद्गीता* (१०.१०) में भगवान् यह भी कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

“जो लोग निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।” यह अत्यन्त व्यावहारिक है। शिक्षक द्वारा शिष्य को शिक्षा देना तभी सार्थक है जब वह उन शिक्षाओं को अधिकाधिक ग्रहण कर सके। अन्यथा शिक्षक द्वारा शिक्षा दिये जाने पर भी वह अपनी विद्या में कोई प्रगति नहीं कर पाता। इससे पक्षपात का प्रश्न ही नहीं उठता। जब कृष्ण कहते हैं—*तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तम्* तब यह सूचित होता है कि कृष्ण हर एक को भक्तियोग प्रदान करने के लिए तैयार रहते हैं लेकिन मनुष्य को उसे ग्रहण करने में समर्थ होना चाहिए। यही रहस्य है। इस प्रकार जब कोई व्यक्ति अद्भुत भक्तिमय कार्यकलाप करता है, तो विचारवान व्यक्ति समझते हैं कि भगवान् कृष्ण इस भक्त पर अधिक अनुकूल हैं।

इसे समझ पाना कठिन नहीं है, लेकिन ईर्ष्यालु लोग यह मानने के लिए तैयार नहीं होते कि भगवान् ने भक्त की उन्नत स्थिति के कारण ही उस पर कृपा की है। ऐसे मूर्ख ईर्ष्या करने लगते हैं और प्रगत भक्त के कार्यों का अवमूल्यन करने का प्रयास करते हैं। यह वैष्णवता नहीं है। वैष्णव को चाहिए कि अन्य वैष्णव द्वारा की गई *भगवत्सेवा* की प्रशंसा करे। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* में वैष्णव को *निर्मत्सर* कहा गया है। वैष्णवजन न तो अन्य वैष्णवों से कभी ईर्ष्या करते हैं, न अन्य किसी से भी।

इसीलिए वे *निर्मत्सराणां सताम्* कहलाते हैं।

जैसाकि *भगवद्गीता* से सूचित होता है, मनुष्य यह समझ सकता है कि वह किस तरह सत्त्वगुण, रजोगुण या तमोगुण से संतृप्त होता है। यहाँ पर जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें से अग्नि सत्त्वगुण की द्योतक है। हम अग्नि के परिमाण से काष्ठ, पेट्रोल या अन्य ज्वलनशील पदार्थों की संरचना समझ सकते हैं। इसी प्रकार जल रजोगुण का द्योतक है। हमारी क्षुद्र त्वचा में तथा विशाल अटलांटिक सागर दोनों ही में जल है और किसी पात्र में जल की मात्रा देखकर पात्र के आकार का अनुमान लगाया जा सकता है। आकाश तमोगुण का द्योतक है। आकाश एक छोटे से घड़े में भी है और अन्तरिक्ष में भी। इस प्रकार उचित न्याय द्वारा सत्त्व, रजो तथा तमोगुण की मात्रा के अनुसार यह देखा जा सकता है कि कौन देवता है और कौन असुर और कौन यक्ष या राक्षस है। केवल देखकर कोई व्यक्ति देवता, असुर या राक्षस को नहीं पहचान सकता, अपितु एक विवेकशील व्यक्ति ऐसे व्यक्ति द्वारा सम्पन्न कार्यकलापों से ही उसे समझ पाता है। *पद्मपुराण* में सामान्य वर्णन मिलता है—*विष्णुभक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः*। विष्णु का भक्त देवता होता है, जबकि असुर या यक्ष इसका ठीक उल्टा होता है। असुर भगवान् विष्णु का भक्त नहीं होता, अपितु अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए वह देवताओं, भूतों, प्रेतों इत्यादि का भक्त होता है। इस प्रकार देवता, राक्षस तथा असुर का निर्णय उनके कार्यकलापों से किया जा सकता है।

इस श्लोक में *आत्मानम्* शब्द का अर्थ *परमात्मानम्* है। परमात्मा सबों के अन्तःकरण में स्थित हैं (*अन्ततः*)। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.६१) में हुई है। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित होने के कारण ईश्वर हर एक को उसके द्वारा उपदेश ग्रहण करने की क्षमता के अनुसार निर्देशन करते हैं। *भगवद्गीता* के उपदेश सबों के लिए खुले हुए हैं, किन्तु कुछ लोग उन्हें ठीक से समझते हैं जब कि कुछ लोग इतने बेढंगेपन से समझते हैं कि वे कृष्ण के अस्तित्व पर ही विश्वास नहीं कर पाते, यद्यपि वे कृष्ण की पुस्तक पढ़ते होते हैं। यद्यपि *गीता* कहती है *श्रीभगवान् उवाच* अर्थात् “कृष्ण ने कहा” किन्तु वे कृष्ण को नहीं समझ पाते। यह उनका दुर्भाग्य या उनकी अक्षमता है, जो रजोगुण तथा तमोगुण के द्वारा उत्पन्न होती है। इन्हीं गुणों के कारण वे कृष्ण को समझ तक नहीं पाते जबकि अर्जुन जैसा प्रगत भक्त उन्हें समझता है और यह कहकर उनका गुणगान करता

है—परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्—आप परब्रह्म हैं, परम धाम तथा परम पवित्र करने वाले हैं। कृष्ण सबों के लिए प्रकट हैं, किन्तु उन्हें समझने की क्षमता होना आवश्यक है।

बाह्य लक्षणों के आधार पर कोई यह नहीं समझ सकता कि भगवान् की कृपा किस पर है और किस पर नहीं। मनुष्य की मनोवृत्ति के अनुसार ही कृष्ण उसके प्रत्यक्ष उपदेशक बनते हैं, अथवा उसके लिए अज्ञात रहते हैं। यह कृष्ण का पक्षपात नहीं है, अपितु उन्हें समझ पाने की क्षमता के प्रति उनकी अनुक्रिया है। मनुष्य की ग्राहकता के अनुसार, चाहे वह देवता हो, असुर हो अथवा यक्ष या राक्षस, कृष्ण के गुण उसी अनुपात से प्रकट होते हैं। किन्तु जो अल्पज्ञ हैं, वे कृष्ण की शक्ति के इस आनुपातिक प्रदर्शन (प्राकट्य) को कृष्ण का पक्षपात समझते हैं, परन्तु वास्तव में यह बात ऐसी नहीं है। कृष्ण सबों पर समभाव रखते हैं और कृष्ण-कृपा को ग्रहण करने की क्षमता के अनुसार ही मनुष्य कृष्णभावनामृत में प्रगति करता है। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर एक व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। आकाश में अनेक तारे होते हैं। रात्रि में, यहाँ तक कि अँधेरे में भी, चन्द्रमा अत्यधिक प्रकाशमान रहता है और प्रत्यक्ष दिखता है। सूर्य भी अत्यधिक प्रकाशमान है। किन्तु बादल से आच्छादित होने पर ये ज्योतिपिंड नहीं दिखते। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों सत्त्वगुण में वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों भक्ति के कारण उसका तेज अधिकाधिक दिखता है, किन्तु जो जितना ही रजो तथा तमो गुणों से आच्छादित होता है, उसका तेज उतना ही कम दृष्टिगोचर होता है। किसी के गुणों का प्राकट्य भगवान् के पक्षपात पर नहीं निर्भर करता, अपितु विभिन्न आवरणों की मात्रा पर निर्भर करता है। इस तरह यह पता चल सकता है कि कोई सत्त्वगुण में कितना अग्रसर है और कितना रजो तथा तमो गुणों से आवृत है।

यदा सिसृक्षुः पुर आत्मनः परो

रजः सृजत्येष पृथक्स्वमायया ।

सत्त्वं विचित्रासु रिरंसुरीश्वरः

शयिष्यमाणस्तम ईरयत्यसौ ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; सिसृक्षुः—सृष्टि करने को इच्छुक; पुरः—भौतिक शरीर; आत्मनः—जीवों के लिए; परः—भगवान्; रजः—रजोगुण; सृजति—प्रकट करता है; एषः—वह; पृथक्—अलग, मुख्यतया; स्व-मायया—अपनी सृजन शक्ति के द्वारा; सत्त्वम्—सतोगुण; विचित्रासु—विभिन्न प्रकार के शरीरों में; रिरंसुः—कर्म करने का इच्छुक; ईश्वरः—भगवान्; शयिष्यमाणः—समाप्त करने के निकट; तमः—तमोगुण; ईरयति—प्रकट करता है; असौ—वह परमेश्वर।

जब भगवान् विभिन्न प्रकार के शरीर उत्पन्न करते हैं और प्रत्येक जीव को उसके चरित्र तथा सकाम कर्मों के अनुसार विशिष्ट प्रकार का शरीर प्रदान करते हैं, तो वे प्रकृति के सारे गुणों—सत्त्व गुण, रजोगुण तथा तमोगुण—को पुनरुज्जीवित करते हैं। तब परमात्मा के रूप में वे प्रत्येक शरीर में प्रविष्ट होकर सृजन, पालन तथा संहार के गुणों को प्रभावित करते हैं जिनमें से सतोगुण का उपयोग पालन के लिए, रजोगुण का उपयोग सृजन के लिए तथा तमोगुण का उपयोग संहार के लिए किया जाता है।

तात्पर्य : यद्यपि भौतिक प्रकृति का संचालन सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के द्वारा होता है, लेकिन प्रकृति स्वतंत्र नहीं है। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (९.१०) में कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

“हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरे निर्देशन के अन्तर्गत कार्य कर रही है और यह समस्त चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न कर रही है। इसके नियमानुसार इस जगत का बारम्बार सृजन तथा विनाश होता रहता है।” भौतिक जगत में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन तीनों गुणों की क्रियाओं—प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होते हैं, किन्तु इन तीनों गुणों से भी ऊपर उनका अध्यक्ष परमेश्वर होता है। प्रकृति (*यन्त्रारूढानि मायया*) द्वारा जीवों को प्रदत्त विभिन्न प्रकार के शरीरों में या तो सत्त्वगुण प्रधान होता है, अथवा रजोगुण या तमोगुण। शरीर की उत्पत्ति प्रकृति द्वारा भगवान् के निर्देशानुसार होती है। इसलिए यहाँ पर कहा गया है— *यदा सिसृक्षुः पुर आत्मनः परः* जो सूचित करता है कि यह शरीर निश्चित रूप से भगवान् द्वारा सृजित है। *कर्मणा दैवनेत्रेण*—जीव के कर्मानुसार भगवान् के निर्देशन में शरीर निर्मित किया जाता है। यह शरीर सतोगुणी है, या रजोगुणी अथवा तमोगुणी, यह सब बहिरंगा शक्ति के द्वारा (*पृथक् स्वमायया*) भगवान् के निर्देशन में सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार भगवान् (*ईश्वर*) विभिन्न प्रकार के शरीरों में परमात्मा रूप में निर्देश देते हैं और पुनः शरीर को विनष्ट करने के लिए। वे तमोगुण का उपयोग करते हैं। इस तरह से जीवों को विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं।

कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं ।

प्रधानपुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कालम्—समय; चरन्तम्—गतिशील; सृजति—उत्पन्न करता है; ईशः—भगवान्; आश्रयम्—शरण; प्रधान—भौतिक शक्ति के लिए; पुम्भ्याम्—तथा जीव के द्वारा; नर-देव—हे मनुष्यों के शासक; सत्य—असली; कृत्—स्रष्टा ।

हे महान् राजा, भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के नियंता भगवान्, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्रष्टा हैं, काल की सृष्टि करते हैं जिससे भौतिक शक्ति तथा जीव काल की सीमा के भीतर परस्पर क्रिया कर सकें। इस प्रकार परम पुरुष न तो कभी काल के अधीन होता है, न ही भौतिक शक्ति (माया) के अधीन होता है।

तात्पर्य : किसी को कभी भी यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् काल पर आश्रित हैं। वे वास्तव में ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं जिससे प्रकृति कार्य करती है और जिससे बद्धजीव प्रकृति के अधीन रहता है। बद्धजीव तथा प्रकृति दोनों ही काल के अधीन कर्म करते हैं, किन्तु भगवान् काल की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के अधीन नहीं हैं, क्योंकि काल की सृष्टि भगवान् ने ही की है। अधिक स्पष्ट करने के लिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि सृजन, पालन तथा संहार ये तीनों भगवान् की परम इच्छा के अधीन हैं।

भगवद्गीता (४.७) में भगवान् कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

“हे भरतवंशी! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का प्राधान्य होता है, तब-तब मैं स्वयं अवतरित होता हूँ।” चूँकि भगवान् कृष्ण सबों के नियंत्रक हैं, अतएव वे जब-जब प्रकट होते हैं, तो काल की सीमाओं में बँधे नहीं होते (जन्म कर्म च मे दिव्यम्)। इस श्लोक में कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं पद सूचित करता है कि चाहे सत्त्वगुण का प्राधान्य हो या रजोगुण अथवा तमोगुण का, यद्यपि भगवान् काल के भीतर कार्य करते हैं, किन्तु हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् काल के अधीन हैं। काल उनके अधीन है, क्योंकि वे इसका सृजन एक निश्चित विधि से कर्म करने के लिए करते हैं, वे कर्म को काल के नियंत्रण में नहीं करते। भौतिक जगत की सृष्टि तो भगवान् की एक लीला मात्र है। हर वस्तु उनके पूर्ण नियंत्रण में रहती है। चूँकि सृष्टि का जन्म तब होता है जब रजोगुण प्रधान होता है, अतएव भगवान् रजोगुण को सुविधाएँ प्रदान करने के लिए आवश्यक काल की सृष्टि करते हैं। इसी

प्रकार वे पालन तथा संहार के लिए आवश्यक कालों का सृजन करते हैं। इस प्रकार यह श्लोक प्रतिपादित करता है कि भगवान् काल की सीमाओं के भीतर नहीं हैं।

जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*ईश्वरः परमः कृष्णः*—कृष्ण परम नियामक हैं। *सच्चिदानन्द विग्रहः*—उनका शरीर आनन्दपूर्ण तथा आध्यात्मिक है। *अनादिः*—वे किसी के भी अधीन नहीं हैं। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.७) में पुष्टि की है—*मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय*—“हे धन के विजेता (अर्जुन)! कोई भी सत्य मुझसे श्रेष्ठ नहीं।” कोई भी वस्तु कृष्ण से बढ़कर नहीं हो सकती, क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के नियंत्रक तथा स्रष्टा हैं।

मायावादी दार्शनिकों का कहना है कि यह जगत *मिथ्या* है, अतएव हमें इस *मिथ्या* सृष्टि की परवाह नहीं करनी चाहिए (*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*)। किन्तु यह सही नहीं है। यहाँ पर *सत्यकृत्* कहा गया है अर्थात् *सत्यं परम्* द्वारा जो भी उत्पन्न किया जाता है, वह *मिथ्या* नहीं कहा जा सकता। सृष्टि का कारण *सत्य* है, अतएव कारण का प्रकार्य किस तरह *मिथ्या* हो सकता है? *सत्यकृत्* शब्द का व्यवहार ही यह प्रतिपादित करने के लिए किया गया है कि भगवान् द्वारा उत्पन्न प्रत्येक वस्तु वास्तविक है, मिथ्या नहीं। भले ही सृष्टि क्षणिक हो, किन्तु मिथ्या नहीं है।

य एष राजन्नपि काल ईशिता

सत्त्वं सुरानीकमिवैधयत्यतः ।

तत्प्रत्यनीकानसुरान्सुरप्रियो

रजस्तमस्कान्प्रमिणोत्युरुश्रवाः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एषः—यह; राजन्—हे राजा; अपि—भी; कालः—काल, समय; ईशिता—परमेश्वर; सत्त्वम्—सतो गुण; सुर-अनीकम्—अनेक देवताओं को; इव—निश्चय ही; एधयति—बढ़ाता है; अतः—अतएव; तत्-प्रत्यनीकान्—उनके प्रति वैर भाव; असुरान्—असुरों को; सुर-प्रियः—देवताओं का मित्र होने से; रजः-तमस्कान्—रजो तथा तमों गुणों से आच्छादित; प्रमिणोति—नष्ट करता है; उरु-श्रवाः—जिसका यश दूर-दूर तक फैला है।

हे राजन् यह काल सत्त्वगुण को बढ़ाता है। इस तरह यद्यपि परमेश्वर नियन्ता हैं, किन्तु वे देवताओं पर कृपालु होते हैं, जो अधिकांशतः सतो गुणी होते हैं। तभी तमोगुणी असुरों का विनाश होता है। परमेश्वर काल को विभिन्न प्रकार से कार्य करने के लिए प्रभावित करते हैं, किन्तु वे कभी पक्षपात नहीं करते। उनके कार्यकलाप यशस्वी हैं, अतएव वे उरुश्रवा कहलाते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कहते हैं—*समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः*—न तो मैं किसी से ईर्ष्या करता हूँ, न मैं किसी का पक्षपात करता हूँ, मैं सबों के प्रति समभाव रखता हूँ। भगवान् पक्षपात नहीं कर सकते; वे सबों के प्रति सदैव समभाव रखते हैं। अतएव जब देवताओं पर कृपा की जाती है और असुरों का वध होता है, तो यह पक्षपात नहीं होता, अपितु काल का प्रभाव होता है। इसका एक अच्छा उदाहरण यह है कि बिजली का मिस्त्री एक ही विद्युत् शक्ति से हीटर तथा कूलर को जोड़ता है। गरम करने तथा ठंडा करने का कारण मिस्त्री द्वारा इच्छानुसार विद्युतशक्ति का समायोजन होता है। परन्तु वस्तुतः मिस्त्री को न तो गरम अथवा ठंडा करने से, न ही उससे उत्पन्न सुख या दुख से कोई प्रयोजन रहता है।

ऐसी अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ हैं जिसमें भगवान् ने किसी असुर का वध किया, किन्तु भगवान् की कृपा से उसे उच्चतर पद मिल गया। पूतना इसका एक उदाहरण है। पूतना का उद्देश्य कृष्ण को मार डालना था। *अहो बकी यं स्तनकालकूटम्*। वह अपने स्तनों में विष लगाकर कृष्ण को मारने के उद्देश्य से नन्द महाराज के घर गई, किन्तु जब वह मार डाली गई तो उसे वैसा ही उच्चतम पद प्राप्त हुआ जैसाकि कृष्ण की माता को। कृष्ण इतने दयालु तथा निष्पक्ष हैं कि चूँकि उन्होंने पूतना का स्तनपान किया था, अतएव उन्होंने तुरन्त उसे अपनी माता के रूप में स्वीकार कर लिया। पूतना का इस प्रकार वध करने से भगवान् की निष्पक्षता में कोई कमी नहीं आई। वे सबों के मित्र हैं—*सुहृदं सर्वभूतानाम्*। अतएव भगवान् के चरित्र पर पक्षपात का आरोप नहीं लगाया जा सकता है क्योंकि परम नियन्ता के अपने पद को वे सदा बनाए रखते हैं। भगवान् ने पूतना का वध शत्रु के रूप में किया, किन्तु उनके परम नियन्ता होने के कारण उसे उनकी माता जैसे उच्च पद की प्राप्ति हुई। अतएव श्रील मध्व मुनि कहते हैं—*काले कालविषयेऽपीशिता देहादि कारणत्वात् सुरानीकम् इव स्थितं सत्त्वम्*। सामान्यतया हत्यारे को फाँसी दी जाती है और *मनु-संहिता* में तो कहा गया है कि राजा हत्यारे का वध करके उस पर कृपा करता है और इस प्रकार उसे विविध प्रकार के कष्टों से बचा लेता है। अपने पापमय कर्मों के कारण ऐसा हत्यारा राजा की कृपा से मार दिया जाता है। कृष्ण परम न्यायकर्ता के रूप में इसी प्रकार से आचरण करते हैं, क्योंकि वे परम नियन्ता हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् सदैव निष्पक्ष रहते हैं और सभी जीवों पर अत्यधिक दयालु हैं।

अत्रैवोदाहृतः पूर्वमितिहासः सुरर्षिणा ।
प्रीत्या महाक्रतौ राजन्पृच्छतेऽजातशत्रवे ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस प्रसंग में; एव—निश्चय; उदाहृतः—सुनाया गया; पूर्वम्—पहले; इतिहासः—पुरानी कथा; सुर-ऋषिणा—देवर्षि नारद द्वारा; प्रीत्या—प्रसन्नतापूर्वक; महा-क्रतौ—महान् राजसूय यज्ञ के अवसर पर; राजन्—हे राजा; पृच्छते—जिज्ञासा करने वाले; अजात-शत्रवे—महाराज युधिष्ठिर को, जिनका कोई शत्रु न था।

हे राजन्, पूर्वकाल में जब महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ कर रहे थे तो महर्षि नारद ने उनके पूछे जाने पर कुछ ऐतिहासिक तथ्य कह सुनाये जिससे पता चलता है कि भगवान् असुरों का वध करते समय भी कितने निष्पक्ष रहते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत किया।

तात्पर्य : इस श्लोक से महाराज युधिष्ठिर द्वारा किए जा रहे राजसूय यज्ञ की स्थली पर जब भगवान् ने शिशुपाल का वध किया तब भी वे कितने निष्पक्ष थे, इसका पता चलता है।

दृष्ट्वा महाद्भुतं राजा राजसूये महाक्रतौ ।
वासुदेवे भगवति सायुज्यं चेदिभूभुजः ॥ १४ ॥
तत्रासीनं सुरऋषिं राजा पाण्डुसुतः क्रतौ ।
पप्रच्छ विस्मितमना मुनीनां शृण्वतामिदम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; महा-अद्भुतम्—अत्यन्त अद्भुत; राजा—राजा; राजसूये—राजसूय नामक; महा-क्रतौ—महान् यज्ञ के अवसर पर; वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान् में; सायुज्यम्—लीन हुआ; चेदिभू-भुजः—चेदि के राजा शिशुपाल का; तत्र—वहाँ; आसीनम्—बैठा हुआ; सुर-ऋषिम्—नारदमुनि से; राजा—राजा; पाण्डु-सुतः—पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर ने; क्रतौ—यज्ञ में; पप्रच्छ—पूछा; विस्मित-मनाः—आश्चर्यचकित होकर; मुनीनाम्—मुनियों की उपस्थिति में; शृण्वताम्—सुनते हुए; इदम्—यह।

हे राजन्, महाराज पाण्डु के पुत्र महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ के समय शिशुपाल को भगवान् कृष्ण के शरीर में विलीन होते हुए स्वयं देखा। अतएव आश्चर्यचकित होकर उन्होंने वहीं पर बैठे महर्षि नारद से इसका कारण पूछा। जब उन्होंने यह प्रश्न पूछा तो वहाँ पर उपस्थित सारे ऋषियों ने भी इस प्रश्न को पूछे जाते सुना।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच

अहो अत्यद्भुतं ह्येतद्दुर्लभैकान्तिनामपि ।
वासुदेवे परे तत्त्वे प्राप्तिश्चैद्यस्य विद्विषः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; अहो—ओह; अति-अद्भुतम्—अत्यन्त आश्चर्यजनक; हि—निश्चय ही; एतत्—यह; दुर्लभ—प्राप्त करने में कठिन; एकान्तिनाम्—अध्यात्मवादियों के लिए; अपि—भी; वासुदेवे—वासुदेव में; परे—परम; तत्त्वे—परम सत्य; प्राप्तिः—प्राप्ति; चैद्यस्य—शिशुपाल की; विद्विषः—ईर्ष्यालु।

महाराज युधिष्ठिर ने पूछा : यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि असुर शिशुपाल अत्यन्त ईर्ष्यालु होते हुए भी भगवान् के शरीर में लीन हो गया। यह सायुज्य मुक्ति बड़े-बड़े अध्यात्मवादियों के लिए भी दुष्प्राप्य है, तो फिर भगवान् के शत्रु को यह कैसे प्राप्त हुई?

तात्पर्य : अध्यात्मवादियों की दो श्रेणियाँ हैं—ज्ञानी तथा भक्त। भक्तगण भगवान् के शरीर में लीन होने की कोई इच्छा नहीं रखते लेकिन ज्ञानी जन ऐसा चाहते हैं। किन्तु शिशुपाल न तो ज्ञानी था, न ही भक्त। फिर भी मात्र भगवान् से ईर्ष्या करने के कारण उसे भगवान् के शरीर में लीन होने जैसी सद्गति प्राप्त हुई। निश्चय ही यह आश्चर्यजनक था, अतएव महाराज युधिष्ठिर ने शिशुपाल के ऊपर भगवान् की इस रहस्यमयी कृपा का कारण पूछा।

एतद्वेदितुमिच्छामः सर्व एव वयं मुने ।

भगवन्नन्दया वेनो द्विजैस्तमसि पातितः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वेदितुम्—जानना; इच्छामः—चाहते हैं; सर्वे—सभी; एव—निश्चय ही; वयम्—हम सब; मुने—हे मुनि; भगवत्-निन्दया—भगवान् की निन्दा करने के कारण; वेनः—वेन, पृथु महाराज का पुत्र; द्विजैः—ब्राह्मणों के द्वारा; तमसि—नरक में; पातितः—गिरा दिया गया।

हे मुनि, हम सभी भगवान् की इस कृपा का कारण जानने के लिए उत्सुक हैं। मैंने सुना है कि प्राचीन काल में वेन नामक राजा ने भगवान् की निन्दा की। फलस्वरूप सारे ब्राह्मणों ने उसे बाध्य किया कि वह नरक में जाये। शिशुपाल को भी नरक जाना चाहिए था। तो फिर वह भगवान् के शरीर में किस तरह लीन हो गया?

दमघोषसुतः पाप आरभ्य कलभाषणात् ।

सम्प्रत्यमर्षी गोविन्दे दन्तवक्रश्च दुर्मतिः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

दमघोष-सुतः—दमघोष का पुत्र, शिशुपाल; पापः—पापी; आरभ्य—प्रारम्भ करके; कल-भाषणात्—बालक जैसी तोतली बोली से; सम्प्रति—आज भी; अमर्षी—ईर्ष्यालु; गोविन्दे—श्रीकृष्ण के प्रति; दन्तवक्रः—दन्तवक्र; च—भी; दुर्मतिः—दुर्बुद्धि।

अपने बाल्यकाल के प्रारम्भ से ही, जब वह ठीक से बोल नहीं पाता था, दमघोष के

महापापी पुत्र शिशुपाल ने भगवान् की निन्दा करनी प्रारम्भ कर दी थी और वह मृत्यु काल तक श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करता रहा। इसी प्रकार उसका भाई दन्तवक्र भी ऐसी आदतें पाले रहा।

शपतोरसकृद्विष्णुं यद्ब्रह्म परमव्ययम् ।

श्वित्रो न जातो जिह्वायां नान्धं विविशतुस्तमः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

शपतोः—निन्दा करने वाले शिशुपाल तथा दन्तवक्र दोनों ही का; असकृत्—बारम्बार; विष्णुम्—भगवान् कृष्ण को; यत्—जो; ब्रह्म परम्—परब्रह्म; अव्ययम्—बिना किसी कमी के; श्वित्रः—श्वेत कुष्ठ; न—नहीं; जातः—प्रकट; जिह्वायाम्—जीभ पर; न—नहीं; अन्धम्—अंधेरा; विविशतुः—वे घुसे; तमः—नरक में।

यद्यपि शिशुपाल तथा दन्तवक्र दोनों ही भगवान् विष्णु (कृष्ण) की बारम्बार निन्दा करते रहे तो भी वे पूर्ण स्वस्थ रहे। न तो उनकी जीभों में ही श्वेत कुष्ठ रोग हुआ, न वे नारकीय जीवन के गहन अंधकार में प्रविष्ट हुए। हम सचमुच इससे अत्यधिक चकित हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१०.१२) में अर्जुन ने कृष्ण का वर्णन इस प्रकार किया है—परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्—आप परब्रह्म, परम धाम तथा पवित्र करने वाले हैं। यहाँ पर इसकी पुष्टि हुई है। विष्णुं यद् ब्रह्म परमव्ययम्। विष्णु ही कृष्ण हैं। कृष्ण विष्णु के कारण हैं, इसके विपरीत नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म कृष्ण के कारण नहीं हैं, अपितु कृष्ण ब्रह्म के कारण हैं। अतएव कृष्ण परब्रह्म हैं (यद् ब्रह्म परमव्ययम्)।

कथं तस्मिन्भगवति दुरवग्राह्यधामनि ।

पश्यतां सर्वलोकानां लयमीयतुरञ्जसा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; तस्मिन्—उसमें; भगवति—भगवान् में; दुरवग्राह्य—प्राप्त करने में कठिन; धामनि—जिसका स्वभाव; पश्यताम्—देखते-देखते; सर्व-लोकानाम्—सारे लोगों के; लयम् ईयतुः—लीन हो गये; अञ्जसा—सरलता से।

यह कैसे सम्भव हो पाया कि शिशुपाल तथा दन्तवक्र अनेक महापुरुषों की उपस्थिति में उन कृष्ण के शरीर में सरलता से प्रविष्ट हो सके, जिन भगवान् की प्रकृति को प्राप्त कर पाना इतना कठिन है?

तात्पर्य : शिशुपाल तथा दन्तवक्र पूर्वजन्म में वैकुण्ठ के द्वारपाल जय और विजय थे। उनका अन्तिम लक्ष्य कृष्ण के शरीर में लीन होना नहीं था। वे कुछ काल तक लीन रहे, किन्तु बाद में उन्हें प्रभु के लोक में रहने तथा उन्हीं के समान शरीर प्राप्त करने, सारूप्य तथा सालोक्य मुक्ति प्राप्त करने,

का अवसर मिला। शास्त्र साक्षी है कि यदि कोई परमेश्वर की निन्दा करता है, तो उसको अनेक ब्राह्मणों का वध करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा लाखों वर्षों तक नारकीय जीवन बिताने का दण्ड दिया जाता है। किन्तु शिशुपाल को नारकीय जीवन में प्रवेश नहीं करना पड़ा; वह तो तुरन्त ही सरलता से सायुज्य मुक्ति को प्राप्त हुआ। शिशुपाल को ऐसा सुअवसर दिया जाना कोरी कथा नहीं है। वहाँ पर उपस्थित सभी लोगों ने इसे देखा, अतएव साक्ष्य की कमी नहीं है। लेकिन यह हुआ कैसे? महाराज युधिष्ठिर अत्यन्त चकित थे।

एतद्भ्राम्यति मे बुद्धिर्दीपार्चिरिव वायुना ।

ब्रूह्येतदद्भुततमं भगवान्द्वत्र कारणम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एतत्—इसे लेकर; भ्राम्यति—डगमगा रही है; मे—मेरी; बुद्धिः—बुद्धि; दीप-अर्चिः—दीपक की लौ; इव—सदृश; वायुना—वायु से; ब्रूहि—कृपा करके कहें; एतत्—यह; अद्भुततमम्—सर्वाधिक अद्भुत; भगवान्—समस्त ज्ञान से युक्त; हि—निश्चय ही; अत्र—यहाँ; कारणम्—कारण।

यह विषय निस्सन्देह अत्यन्त अद्भुत है। मेरी बुद्धि उसी तरह डगमगा रही है, जिस तरह बहती हुई वायु से दीपक की लौ विचलित हो जाती है। हे नारद मुनि, आप सब कुछ जानते हैं। कृपा करके मुझे इस अद्भुत घटना का कारण बताएँ।

तात्पर्य : शास्त्रों का आदेश है—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*। जब मनुष्य जीवन की कठिन समस्याओं से आक्रान्त हो जाये तो उनको हल करने के लिए उसे नारद अथवा परम्परागत किसी प्रतिनिधि तुल्य गुरु के पास जाना चाहिए। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने नारद से विनती की कि वे ऐसी अद्भुत घटना का कारण बताएँ।

श्रीबादरायणिरुवाच

राज्ञस्तद्वच आकर्ण्य नारदो भगवानृषिः ।

तुष्टः प्राह तमाभाष्य शृण्वत्यास्तत्सदः कथाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; राज्ञः—राजा (युधिष्ठिर) के; तत्—वे; वचः—शब्द; आकर्ण्य—सुनकर; नारदः—नारद मुनि ने; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; ऋषिः—ऋषि; तुष्टः—प्रसन्न होकर; प्राह—कहा; तम्—उसको; आभाष्य—सम्बोधित करके; शृण्वत्याः तत्-सदः—सभासदों की उपस्थित में; कथाः—कथाएँ।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : महाराज युधिष्ठिर की विनती सुनकर अत्यन्त शक्तिशाली गुरु नारद मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए, क्योंकि वे हर बात को जानने वाले हैं। इस तरह उन्होंने यज्ञ में

भाग लेने वाले सभी व्यक्तियों के समक्ष उत्तर दिया।

श्रीनारद उवाच

निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थं कलेवरम् ।

प्रधानपरयो राजन्नविवेकेन कल्पितम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; निन्दन—निन्दा; स्तव—स्तुति, प्रशंसा; सत्कार—सम्मान; न्यक्कार—अपमान; अर्थम्—के प्रयोजन से; कलेवरम्—शरीर; प्रधान-परयोः—प्रकृति तथा भगवान् का; राजन्—हे राजा; अविवेकेन—बिना भेदभाव के; कल्पितम्—उत्पन्न।

महर्षि नारद ने कहा : हे राजन्, निन्दा तथा स्तुति, अपमान तथा सम्मान का अनुभव अज्ञान के कारण होता है। बद्धजीव का शरीर भगवान् द्वारा अपनी बहिरंगा शक्ति के माध्यम से इस जगत में कष्ट भोगने के लिए बनाया गया है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१८.६१) में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

“हे अर्जुन! परमेश्वर सबों के हृदय में स्थित है और वह भौतिक शक्ति से निर्मित यंत्र पर आसीन समस्त जीवों के चक्कर लगाने का निर्देशन कर रहा है।” भौतिक शरीर का निर्माण बहिरंगा शक्ति द्वारा भगवान् के निर्देशानुसार किया जाता है। बद्धजीव इस यंत्र में आरूढ़ होकर पूरे ब्रह्माण्ड में विचरण करता है और देहात्म-बुद्धि के कारण कष्ट ही कष्ट भोगता रहता है। वस्तुतः निन्दा का कष्ट और प्रशंसा का हर्ष, सत्कार की स्वीकृति या कठोर शब्दों द्वारा अपमान—ये सभी जीवन की भौतिक धारणा से ही अनुभव किये जाते हैं। किन्तु चूँकि भगवान् भौतिक नहीं, अपितु सच्चिदानन्द विग्रह हैं, अतएव वे अपमान या सम्मान, निन्दा या स्तुति से अप्रभावित रहते हैं। सदा अप्रभावित रहने तथा पूर्ण होने के कारण वे भक्तों द्वारा सुन्दर प्रार्थनाएँ किये जाने पर अधिक हर्षित नहीं होते, यद्यपि भक्त को भगवान् की प्रार्थना करने से लाभ होता है। निस्सन्देह वे अपने तथाकथित शत्रु के प्रति अत्यन्त दयालु रहते हैं, क्योंकि जो भगवान् को सतत अपना शत्रु मानता है उसे भी लाभ होता है यद्यपि वह भगवान् के प्रतिकूल सोचता रहता है। बद्धजीव, शत्रु या मित्र, चाहे किसी रूप में भगवान् पर अनुरक्त हो जाता है और लाभ ही प्राप्त करता है।

हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा ।

वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

हिंसा—कष्ट; तत्—इसका; अभिमानेन—मिथ्या धारणा; दण्ड-पारुष्ययोः—दण्ड तथा अपमान की; यथा—जिस तरह; वैषम्यम्—भ्रान्ति; इह—यहाँ (इस शरीर में); भूतानाम्—जीवों का; मम-अहम्—मेरा और मैं; इति—इस प्रकार; पार्थिव—हे पृथ्वी के स्वामी ।

हे राजन्, देहात्म-बुद्धि के कारण बद्धजीव अपने शरीर को ही आत्मा मान लेता है और अपने शरीर से सम्बद्ध हर वस्तु को अपनी मानता है। चूँकि उसे जीवन की यह मिथ्या धारणा रहती है, अतएव उसे प्रशंसा तथा अपमान जैसे द्वंद्वों को भोगना पड़ता है।

तात्पर्य : जब बद्धजीव शरीर को ही आत्मा मान लेता है तभी वह अपमान या प्रशंसा के प्रभावों का अनुभव करता है। तभी वह एक व्यक्ति को शत्रु और दूसरे को मित्र मान बैठता है और वह शत्रु का अपमान तथा मित्र का सत्कार करना चाहता है। मित्रों तथा शत्रुओं की यह सृष्टि उसकी देहात्म-बुद्धि का परिणाम होती है।

यन्निबद्धोऽभिमानोऽयं तद्वधात्प्राणिनां वधः ।

तथा न यस्य कैवल्यादभिमानोऽखिलात्मनः ।

परस्य दमकर्तृर्हि हिंसा केनास्य कल्प्यते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसमें; निबद्धः—बँधा हुआ; अभिमानः—मिथ्या धारणा; अयम्—यह; तत्—उस (शरीर) के; वधात्—विनाश से; प्राणिनाम्—जीवों का; वधः—विनाश; तथा—उसी प्रकार से; न—नहीं; यस्य—जिसका; कैवल्यात्—अद्वितीय या परम होने के कारण; अभिमानः—भ्रान्त धारणा; अखिल-आत्मनः—समस्त जीवों के परमात्मा का; परस्य—भगवान् का; दम-कर्तुः—परम नियन्ता; हि—निश्चय ही; हिंसा—क्षति; केन—कैसे; अस्य—उसका; कल्प्यते—सम्पन्न की जाती है।

देहात्मा-बुद्धि के कारण बद्धजीव सोचता है कि जब शरीर नष्ट हो जाता है, तो जीव नष्ट हो जाता है। भगवान् विष्णु ही परम नियन्ता तथा समस्त जीवों के परमात्मा हैं। चूँकि उनका कोई भौतिक शरीर नहीं होता, अतएव उनमें “मैं तथा मेरा” जैसी भ्रान्त धारणा नहीं होती। अतएव यह सोचना सही नहीं है कि जब उनकी निन्दा की जाती है या उनकी स्तुति की जाती है, तो वे पीड़ा या हर्ष का अनुभव करते हैं। ऐसा कर पाना उनके लिए असम्भव है। इस प्रकार उनका न कोई शत्रु है और न कोई मित्र। जब वे असुरों को दण्ड देते हैं, तो उनकी भलाई के लिए ऐसा करते हैं और जब भक्तों की स्तुतियाँ स्वीकार करते हैं, तो वह उनके कल्याण के लिए होता है।

वे न तो स्तुतियों से प्रभावित होते हैं न निन्दा से।

तात्पर्य : भौतिक शरीरों से आवृत होने के कारण बड़े से बड़े विद्वान तथा मिथ्या ढंग से शिक्षित प्राचार्य समेत सारे बद्धजीव यह सोचते हैं कि ज्योंही शरीर का अन्त हो जाता है त्योंही सब कुछ समाप्त हो जाता है। यह उनकी देहात्म-बुद्धि के कारण है। कृष्ण के न तो ऐसी देहात्म-बुद्धि होती है, न ही उनका शरीर उनकी आत्मा से भिन्न है। अतएव जब कृष्ण में किसी प्रकार की देहात्म-बुद्धि है ही नहीं तो फिर वे भौतिक स्तुतियों तथा दोषारोपणों से किस प्रकार प्रभावित हो सकते हैं? यहाँ पर कृष्ण के शरीर को *कैवल्य* कहा गया है अर्थात् उनसे अभिन्न। चूँकि हर एक के देहात्म-बुद्धि होती है अतएव यदि कृष्ण भी ऐसे ही हों तो फिर उनमें तथा बद्धजीव में क्या अन्तर हुआ? *भगवद्गीता* में कृष्ण के उपदेशों को निर्णायक माना जाता है, क्योंकि उनका शरीर भौतिक नहीं होता। ज्योंही भौतिक शरीर मिला नहीं कि मनुष्य में चार अवगुण आ जाते हैं, लेकिन कृष्ण के भौतिक देह न होने से उनमें ये अवगुण नहीं पाये जाते। वे सदैव आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्मय तथा आनन्दमय रहते हैं। *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः*—उनका स्वरूप शाश्वत, आनन्दपूर्ण तथा ज्ञानपूर्ण है। *सच्चिदानन्द-विग्रहः, आनन्द चिन्मय-रस तथा कैवल्य एक ही हैं।*

कृष्ण प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के भीतर परमात्मा रूप में विस्तार कर सकते हैं। *भगवद्गीता* (१३.३) में इसकी पुष्टि हुई है। *क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत*—भगवान् परमात्मा हैं अर्थात् सभी जीवों की *आत्मा* हैं। अतएव यह स्वाभाविक रूप से निष्कर्ष निकलता है कि उनमें दोषपूर्ण देहात्म-बुद्धि नहीं पाई जाती। वे हर एक शरीर में स्थित होते हुए भी देहात्म-बुद्धि नहीं रखते। वे ऐसी धारणाओं से सदैव मुक्त रहते हैं, अतएव वे जीव के भौतिक शरीर से सम्बन्धित किसी भी वस्तु से प्रभावित नहीं हो सकते।

भगवद्गीता (१६.१९) में कृष्ण कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

“जो लोग ईर्ष्यालु तथा खल हैं, जो मनुष्यों में निम्नतम हैं, वे मेरे द्वारा इस भवसागर में जीवन की विविध आसुरी योनियों में डाल दिये जाते हैं।” किन्तु जब भी भगवान् असुरों जैसे मनुष्यों को दण्ड

देते हैं, तो यह दण्ड इन बद्धजीवों के हित में होता है। भगवान् से ईर्ष्या करने के कारण बद्धजीव उन पर यह दोषारोपण कर सकता है कि “कृष्ण बुरे हैं, वे चोर हैं।” किन्तु कृष्ण समस्त जीवों पर दयालु होने के कारण ऐसे आरोपों पर ध्यान नहीं देते। उल्टे, वे बद्धजीवों के द्वारा अनेक बार “कृष्ण-कृष्ण” का कीर्तन करने को महत्त्व देते हैं। वे कभी-कभी ऐसे असुरों को एक जन्म में निम्नतर योनि में डालकर दण्डित करते हैं और फिर जब वे दोषारोपण करना छोड़ देते हैं, तो अगले जन्म में कृष्ण का निरन्तर कीर्तन करने के कारण उन्हें मुक्त कर दिया जाता है। परमेश्वर या उनके भक्त की निन्दा करना बद्धजीवों के लिए कभी कल्याणप्रद नहीं होता, किन्तु अत्यन्त दयालु होने के कारण कृष्ण बद्धजीवों के ऐसे पापकर्मों के लिए एक जन्म में दण्ड देते हैं और फिर उन्हें अपने धाम वापस बुला लेते हैं। इसका सजीव उदाहरण वृत्रासुर है, जो पूर्वजन्म में चित्रकेतु महाराज नामक महान् भक्त था। चूँकि उसने भक्तों के शिरोमणि शिवजी का उपहास किया, अतएव उसे वृत्र नामक असुर का शरीर धारण करना पड़ा। किन्तु बाद में उसे भगवद्धाम प्राप्त हुआ। इस तरह जब कृष्ण किसी असुर या बद्धजीव को दण्ड देते हैं, तो वे उसकी निन्दा करने की आदत छोड़ा देते हैं और जब वह पूरी तरह शुद्ध हो जाता है, तो भगवान् उसे अपने धाम बुला लेते हैं।

तस्माद्द्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा ।

स्नेहात्कामेन वा युञ्ज्यात्कथञ्चिन्नेक्षते पृथक् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; वैर-अनुबन्धेन—निरन्तर शत्रुता से; निर्वैरेण—भक्ति से; भयेन—भय से; वा—अथवा; स्नेहात्—स्नेह से; कामेन—विषय वासनाओं से; वा—अथवा; युञ्ज्यात्—केन्द्रित करे; कथञ्चित्—किसी न किसी तरह; न—नहीं; ईक्षते—देखता है; पृथक्—अन्य कुछ।

अतएव यदि कोई बद्धजीव किसी तरह शत्रुता या भक्ति, भय, स्नेह या विषयवासना द्वारा—इनमें से सभी या किसी एक के द्वारा—अपने मन को भगवान् पर केन्द्रित करता है, तो परिणाम एक सा मिलता है, क्योंकि अपनी आनन्दमयी स्थिति के कारण भगवान् कभी भी शत्रुता या मित्रता द्वारा प्रभावित नहीं होते।

तात्पर्य : इस श्लोक से किसी को यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि चूँकि कृष्ण पर अनुकूल प्रार्थनाओं या प्रतिकूल निन्दा का कोई असर नहीं होता इसलिए परमेश्वर की निन्दा ही की जाये। यह विधि-विधान नहीं है। भक्तियोग का अर्थ है—आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्—मनुष्य को चाहिए कि

अत्यन्त अनुकूल होकर कृष्ण की सेवा करे। यही असली आदेश है। यहाँ यह कहा गया है कि यद्यपि शत्रु कृष्ण के प्रतिकूल सोचता है, किन्तु भगवान् ऐसी अभक्तिमयी सेवा से अप्रभावित रहते हैं। वे इस तरह शिशुपाल को तथा उसी भाव से शत्रुभाव रखने वाले अन्य बद्धजीवों को भी वर देते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि मनुष्य भगवान् के प्रति शत्रुभाव रखे। यहाँ पर अनुकूल होकर भक्ति करने पर बल दिया गया है, जानबूझ कर भगवान् की निन्दा करने पर नहीं। कहा गया है—

निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा।

ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः ॥

यदि कोई भगवान् या उनके भक्तों की निन्दा सुने तो उसे चाहिए कि या तो तुरन्त कार्यवाही करे या उस स्थान को छोड़ दे। अन्यथा उसे सतत नारकीय जीवन भोगना होगा। ऐसे अनेक आदेश हैं। अतएव विधान के अनुसार मनुष्य को भगवान् के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए, अपितु सदैव उनके अनुकूल रहना चाहिए।

शिशुपाल द्वारा परमेश्वर में लीन होने की घटना भिन्न प्रकार की थी, क्योंकि अपने भौतिक जीवन के प्रारम्भ से ही जय-विजय को तीन जन्मों तक परमेश्वर को शत्रु की भाँति मानने का श्राप मिला था। उसके बाद उन्हें भगवद्धाम लौटना था। जय तथा विजय भीतर-भीतर जानते थे कि कृष्ण भगवान् हैं, लेकिन अपने उद्धार हेतु वे जानबूझ कर उनके शत्रु बने रहे। वे अपने जीवन के प्रारम्भ से ही भगवान् कृष्ण को अपना शत्रु समझने लगे थे, लेकिन उनकी निन्दा करते हुए भी शत्रुवत् विचारों के साथ-साथ वे लगातार उनका कीर्तन भी करते रहते थे। इस प्रकार वे कृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन करने के कारण शुद्ध हो गये। यह जान लेना चाहिए कि निन्दक भी भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करने से अपने पापपूर्ण कृत्यों से मुक्त हो सकता है। अतएव जो भक्त भगवान् के अनुकूल रह कर सेवा करता है उसकी मुक्ति सुनिश्चित है। अगले श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है। कृष्ण का एकाग्र ध्यान करने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है और भौतिक जीवन से उसका उद्धार हो जाता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भयेन शब्द की बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है। भयेन का अर्थ है “भय से”। जब गोपियाँ सुनसान रात्रि में कृष्ण के पास गईं तो उन्हें अपने सम्बन्धियों—अपने पतियों, भाइयों तथा पिताओं द्वारा—दण्डित होने का भय था, किन्तु उन सबकी परवाह न करती हुई वे कृष्ण

के पास गई। भय तो था ही, किन्तु यह भय कृष्ण के प्रति उनकी भक्ति को रोक नहीं पाया।

मनुष्य को भूलकर भी यह नहीं सोचना चाहिए कि शिशुपाल की तरह शत्रु भाव से कृष्ण की पूजा की जानी चाहिए। आदेश यह है—*आनुकूल्यस्य ग्रहणं प्रतिकूल्यस्य वर्जनम्*—मनुष्य को चाहिए कि में प्रतिकूल कर्म त्याग दे और अनुकूल स्थितियों को ही स्वीकार करे। सामान्यतया यदि कोई भगवान् की निन्दा करता है, तो वह दण्डित होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१६.१९) में भगवान् कहते हैं :

तानहं द्विषतः क्रूरान संसारेषु नराधमान् ।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

ऐसे अनेक आदेश हैं। मनुष्य को चाहिये कि प्रतिकूल होकर कृष्ण को न पूजे, अन्यथा उसे कम से कम एक जन्म में दण्डित होना पड़ेगा जिससे वह शुद्ध हो सके। जिस प्रकार मनुष्य को चाहिये कि वह शत्रु बाघ या सर्प का आलिंगन करके मरने का प्रयास न करे उसी तरह उसे चाहिये कि वह भगवान् की निन्दा न करे और नारकीय जीवन में जाने के लिए उनका शत्रु न बने।

इस श्लोक का उद्देश्य इस बात पर बल देना है कि भगवान् के शत्रु का भी उद्धार हो सकता है, उनके मित्र के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। श्रील मध्वाचार्य ने भी कई प्रकार से कहा है कि मनुष्य को मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान् विष्णु की निन्दा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि निन्दक अपने पूर्वजों सहित नारकीय जीवन का भागी होगा।

कर्मणा मनसा वाचा यो द्विष्याद् विष्णुमव्ययम् ।

मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः ॥

भगवद्गीता (१६.१९-२०) में भगवान् कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान संसारेषु नराधमान् ।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

“जो लोग ईर्ष्यालु तथा दुर्जन हैं, जो मनुष्यों में सबसे नीच हैं, वे मेरे द्वारा इस संसार-सागर में जीवन की विविध आसुरी योनियों में डाल दिये जाते हैं। ऐसे लोग आसुरी योनियों में बारम्बार जन्म

लेने के कारण कभी भी मुझ तक नहीं पहुँच सकते। वे धीरे-धीरे अत्यन्त निकृष्ट जीवन में धँस जाते हैं।” जो भगवान् की निन्दा करता है उसे असुरों के परिवार में डाल दिया जाता है, जिसमें भगवान् की सेवा के विस्मरण होने की पूरी-पूरी सम्भावना रहती है। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (९.११-१२) में आगे और भी कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

जो मूढ़ अर्थात् धूर्त हैं, वे परमेश्वर की निन्दा करते हैं, क्योंकि वे मनुष्य की भाँति प्रकट होते हैं। वे भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य को नहीं जानते।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

शत्रु भाव से जो कुछ भी किया जाता है, वह विफल होता है (*मोघाशाः*)। यदि ये शत्रु मुक्त होना चाहते हैं, या ब्रह्म में लीन होना चाहते हैं, यदि वे *कर्मियों* की भाँति उच्च लोकों में पहुँचने के इच्छुक हैं, अथवा यदि वे भगवद्धाम को ही वापस जाना चाहते हैं, तो उन्हें निश्चित रूप से निराश होना पड़ेगा।

जहाँ तक हिरण्यकशिपु की बात है, यद्यपि वह भगवान् से अत्यधिक शत्रुता रखता था, किन्तु वह अपने पुत्र के विषय में सदैव सोचा करता था, जो एक महान् भक्त था। अतएव अपने पुत्र प्रह्लाद महाराज की कृपा से हिरण्यकशिपु का भगवान् के द्वारा उद्धार हो गया।

हिरण्यकशिपुश्चापि भगवन्निन्दया तमः ।

विवक्षुरत्यगात्सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः ॥

निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को शुद्ध भक्ति नहीं छोड़नी चाहिए। यहाँ तक कि निजी लाभ के लिए भी हिरण्यकशिपु या शिशुपाल का अनुकरण नहीं करना चाहिये। सफलता प्राप्त करने का यह तरीका नहीं है।

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् ।

न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; वैर-अनुबन्धेन—निरन्तर शत्रुता से; मर्त्यः—व्यक्ति; तत्-मयताम्—उनमें तल्लीनता; इयात्—प्राप्त कर सकता है; न—नहीं; तथा—उसी तरह; भक्ति-योगेन—भक्ति से; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; निश्चिता—निश्चित; मतिः—मत, विचार।

नारद मुनि ने आगे बताया—मनुष्य को भक्ति द्वारा भगवान् के विचार में ऐसी गहन तल्लीनता प्राप्त नहीं हो सकती जितनी कि उनके प्रति शत्रुता के माध्यम से। ऐसा मेरा विचार है।

तात्पर्य : सर्वोच्च शुद्ध भक्त श्रीमान् नारद मुनि शिशुपाल जैसे कृष्ण के शत्रुओं की प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उनके मन पूर्णतया सदा कृष्ण में लीन रहते हैं। निस्सन्देह, वह शत्रु अपने में कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लीन न रहने का अभाव पाता है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कृष्ण के शत्रु कृष्ण के शुद्ध भक्तों से बढ़कर होते हैं। चैतन्य-चरितामृत (आदि ५.२०५) में कृष्णदास कविराज गोस्वामी भी इसी विनीत भाव से अपने विषय में सोचते हैं—

जगाइ माधाइ हैते मुजि से पापिष्ठ।

पुरीषेर कीट हैते मुजि से लधिष्ठ ॥

“मैं जगाइ तथा माधाइ से भी निकृष्ट पापी हूँ और मैं मल के कीड़े से भी नीचे हूँ।” शुद्ध भक्त अपने को सदैव दूसरों से हीन समझता है। यदि कोई भक्त भगवान् की सेवा करने के निमित्त श्रीमती राधारानी के पास जाता है, तो वे भी यही सोचती हैं कि यह भक्त मुझसे बढ़कर है। इस तरह नारद मुनि कहते हैं कि उनके मतानुसार कृष्ण के शत्रु अच्छी स्थिति में होते हैं, क्योंकि वे इन विचारों में कि कृष्ण उनका वध करेंगे, पूर्णतया लीन रहते हैं जिस प्रकार अत्यन्त विषयी मनुष्य सदैव स्त्रियों तथा उनकी संगति के विषय में सोचता रहता है।

इस सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि मनुष्य को चौबीसों घण्टे कृष्ण के विचारों में लीन रहना चाहिये। वृन्दावन में दर्शित राग-मार्ग में अनेक भक्त हैं। चाहे दास्य-रस हो, सख्य-रस हो, वात्सल्य-रस हो या माधुर्य-रस, कृष्ण के भक्त सदैव कृष्ण के विचारों में अभिभूत रहते हैं। जब कृष्ण वृन्दावन से दूर जंगल में गौवें चराते तो गोपियाँ सदैव माधुर्य-रस में इन विचारों में मग्न रहती हैं कि कृष्ण जंगल में किस प्रकार विचरण करते होंगे। उनके पाँवों के तलवे इतने कोमल हैं कि गोपियाँ उनके चरणकमलों को अपने वक्षस्थलों पर रखने का साहस नहीं कर पातीं। निस्सन्देह, वे अपने वक्षस्थलों को कृष्ण के चरणकमलों के लिए बहुत कठोर स्थान समझती हैं, फिर भी वे चरणकमल जंगल में भ्रमण करते हैं, जो कांटेदार पौधों से भरा हुआ है। गोपियाँ अपने-अपने घरों में ऐसे विचारों में मग्न

रहती हैं, यद्यपि कृष्ण उनसे दूर होते हैं। इसी तरह कृष्ण अपने तरुण मित्रों के साथ खेलते हैं, तो माता यशोदा को यही विचार सताता रहता है कि कृष्ण लगातार खेलते रहने के कारण ठीक से भोजन नहीं कर पाते, अतएव वे कमजोर पड़ते जा रहे हैं। ये उन आनन्दानुभूतियों के उदाहरण हैं, जो कृष्ण की सेवा करते समय वृन्दावन में प्रकट होती थीं। नारद मुनि ने इस श्लोक में इस सेवा की अप्रत्यक्ष प्रशंसा की है। विशेष रूप से बद्धजीवों के लिए नारद मुनि बताते हैं कि उन्हें किसी ना किसी तरह कृष्ण के विचारों में मग्न रहना चाहिये, क्योंकि इससे मनुष्य इस संसार के सारे भय से बच जावेगा। कृष्ण के विचारों में पूरी तरह निमग्न रहना भक्ति योग की चरम स्थिति है।

कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन् ।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्स्वरूपताम् ॥ २८ ॥
एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे ।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कीटः—कीड़ा; पेशस्कृता—मधुमक्खी (भृंगी) द्वारा; रुद्धः—बन्दी बनाया गया; कुड्यायाम्—दीवाल के छेद में; तम्—उस (मधुमक्खी) को; अनुस्मरन्—सोचते हुए; संरम्भ-भय-योगेन—अत्यधिक भय तथा शत्रुता के द्वारा; विन्दते—प्राप्त करता है; तत्—उस मक्खी का; स्व-रूपताम्—वही रूप; एवम्—इस प्रकार; कृष्णे—कृष्ण में; भगवति—भगवान्; माया-मनुजे—जो अपनी ही शक्ति से मनुष्य रूप में; ईश्वरे—परम; वैरेण—शत्रुता से; पूत-पाप्मानः—पापों से शुद्ध हुए; तम्—उसको; आपुः—प्राप्त किया; अनुचिन्तया—चिन्तन से।

एक मधुमक्खी (भृंगी) द्वारा दीवाल के छेद में बन्दी बनाया गया एक कीड़ा सदैव भय तथा शत्रुता के कारण उस मधुमक्खी के विषय में सोचता रहता है और बाद में मात्र चिन्तन से स्वयं मधुमक्खी बन जाता है। इसी प्रकार यदि सारे बद्धजीव किसी तरह सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण का चिन्तन करें, तो वे पापों से मुक्त हो जाएँगे। वे भगवान् को चाहे पूज्य रूप में मानें या शत्रु के रूप में, निरन्तर उनका चिन्तन करते रहने से उन सबों को आध्यात्मिक शरीर की पुनःप्राप्ति हो जाएगी।

तात्पर्य : भगवद्गीता (४.१०) में भगवान् कहते हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्माया मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥

“आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त होकर मुझमें पूर्णतया लीन होकर तथा मेरी शरण ग्रहण करके

भूतकाल में अनेकानेक व्यक्ति मेरे ज्ञान से पवित्र बन गये हैं और इस तरह उन्होंने मेरे प्रति दिव्य प्रेम प्राप्त किया है।” कृष्ण के विषय में निरन्तर चिन्तन करते रहने के दो ढंग हैं—एक तो भक्त के रूप में और दूसरा शत्रु के रूप में। भक्त अपने ज्ञान तथा तपस्या से भय तथा क्रोध से मुक्त होकर शुद्ध भक्त बन जाता है। इसी तरह शत्रु यद्यपि कृष्ण के विषय में शत्रु भाव से सोचता है, किन्तु निरन्तर सोचते रहने से वह भी शुद्ध बन जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.३०) में अन्यत्र की गई है जहाँ भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥

“यदि कोई अत्यन्त गर्हित कर्म भी करे किन्तु यदि वह भक्ति में लगा रहता है, तो उसे साधु समझना चाहिये, क्योंकि वह उचित ठीक तरह से स्थित है।” भक्त निस्सन्देह मनोयोग से भगवान् की पूजा करता है। इसी प्रकार यदि एक शत्रु (*सुदुराचारः*) सदैव कृष्ण का चिन्तन करता है, तो वह भी शुद्ध भक्त बन जाता है। यहाँ पर उस कीट का दृष्टान्त दिया गया है, जो उस मधुमक्खी (भृंगी) का निरन्तर चिन्तन करने के कारण जो उसे छेद में जबरदस्ती प्रविष्ट करा देती है, मधुमक्खी (भृंगी) बन जाता है। भयवश सदैव मधुमक्खी का चिन्तन करते रहने से कीड़ा मक्खी बनने लगता है। यह एक व्यावहारिक उदाहरण है। भगवान् कृष्ण इस भौतिक जगत में दो प्रयोजनों से प्रकट होते हैं—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों का संहार करने हेतु। साधुगण तथा भक्तगण सदैव भगवान् का चिन्तन करते रहते हैं, लेकिन कंस तथा शिशुपाल जैसे असुर या *दुष्कृती* भी कृष्ण का चिन्तन उन्हें मारने के उद्देश्य से करते हैं। कृष्ण का चिन्तन करने से असुर तथा भक्त दोनों ही माया के पाश से मुक्त हो जाते हैं।

इस श्लोक में *माया-मनुजे* शब्द आया है। जब भगवान् कृष्ण अपनी मूल आध्यात्मिक शक्ति में प्रकट होते हैं (*सम्भवाम्यात्ममायया*) तो उन्हें भौतिक प्रकृति के द्वारा निर्मित स्वरूप ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता। अतएव भगवान् को ईश्वर अथवा माया का नियंत्रक कह कर सम्बोधित किया गया है। वे माया द्वारा नियंत्रित नहीं होते। जब कोई असुर शत्रुतावश उनका लगातार चिन्तन करता है, तो वह अपने जीवन के पापों से निश्चित रूप से मुक्त हो जाता है। कृष्ण के विषय में किसी

भी रूप में चिन्तन करना, चाहे वह उनके नाम, स्वरूप, गुण, साज-सामान या उनसे सम्बन्धित अन्य किसी रूप में हो, हर एक के लिए लाभप्रद होता है। *शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।* कृष्ण का चिन्तन, कृष्ण के पवित्र नामों का श्रवण या कृष्ण की लीलाओं का श्रवण—ये सभी शुद्ध बनाने वाले हैं और *तत्पश्चात्* मनुष्य भक्त बन जाता है। अतएव हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन हर एक को किसी न किसी प्रकार कृष्ण के पवित्र नाम को सुनने तथा कृष्ण का *प्रसाद* ग्रहण करने के लिए प्रेरित करने का प्रयास कर रहा है। इस तरह मनुष्य धीरे-धीरे भक्त बन जाएगा और उसका जीवन सफल हो सकेगा।

कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः ।

आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

कामात्—काम से; द्वेषात्—घृणा से; भयात्—भय से; स्नेहात्—स्नेह से; यथा—तथा; भक्त्या—भक्ति से; ईश्वरे—ईश्वर में; मनः—मन; आवेश्य—लीन करके; तत्—उस; अघम्—पाप को; हित्वा—त्याग कर; बहवः—अनेक; तत्—उस; गतिम्—मुक्ति के मार्ग को; गताः—प्राप्त हुए।

अनेकानेक व्यक्तियों ने केवल अत्यन्त एकाग्रतापूर्वक कृष्ण का चिन्तन करके तथा पापपूर्ण कर्मों का त्याग करके मुक्ति प्राप्त की है। यह ध्यान कामवासनाओं, शत्रुतापूर्ण भावनाओं, भय, स्नेह या भक्ति के कारण हो सकता है। अब मैं यह बताऊँगा कि किस प्रकार से मनुष्य भगवान् में अपने मन को एकाग्र करके कृष्ण की कृपा प्राप्त करता है।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.३३.३९) में कहा गया है—

विक्रीडितं ब्रजवधूभिरिदं च विष्णोः

श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं

हृद्रोगमाश्रपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

यदि प्रामाणिक श्रोता कृष्ण व गोपियों की लीलाओं को, जो कामपूर्ण सी प्रतीत होती हैं, से सुनता है, तो उसके हृदय की कामवासना, जो बद्धजीव के हृदय रोग का कारण है, विनष्ट हो जाएगी और वह भगवान् का श्रेष्ठ भक्त बन जाएगा। यदि कोई कृष्ण के साथ गोपियों के विषयी आचरण के श्रवण मात्र से विषय-वासनाओं से मुक्त हो जाता है, तो निश्चित रूप से गोपियाँ कृष्ण के पास जाकर ऐसी समस्त

इच्छाओं से मुक्त हो गई। इसी प्रकार शिशुपाल तथा अन्य लोग जो कृष्ण से अत्यधिक ईर्ष्या करते थे और निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करते थे ईर्ष्या से मुक्त हो गये। नन्द महाराज तथा माता यशोदा स्नेह के कारण कृष्णभावनामृत में लीन रहते थे। जब मन किसी न किसी तरह कृष्ण में पूरी तरह लीन रहता है, तो भौतिक अंश तो तुरन्त लुप्त हो जाता है और आध्यात्मिक अंश—कृष्ण का आकर्षण—प्रकट हो जाता है। इससे परोक्षतः यह पुष्टि होती है कि यदि कोई ईर्ष्यावश ही कृष्ण का चिन्तन करता है, तो मात्र चिन्तन करने के कारण वह अपने समस्त पापों से मुक्त हो जाता है और शुद्ध भक्त बन जाता है। इसके उदाहरण अगले श्लोक में दिये गये हैं।

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।

सम्बन्धाद्दृष्यायः स्नेहाद्द्यूयं भक्त्या वयं विभो ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

गोप्यः—गोपियाँ; कामात्—काम-वासनाओं से; भयात्—भय से; कंसः—राजा कंस; द्वेषात्—द्वेष से; चैद्यः—शिशुपाल तथा अन्य; नृपाः—राजा; सम्बन्धात्—नाते से; दृष्यायः—दृष्टिजन या यादवगण; स्नेहात्—स्नेह से; यूयम्—तुम सब, सारे (पाण्डव); भक्त्या—भक्ति से; वयम्—हम सब; विभो—हे महान् राजा।

हे राजा युधिष्ठिर, गोपियाँ अपनी विषयवासना से, कंस भय से, शिशुपाल तथा अन्य राजा ईर्ष्या से, यदुगण कृष्ण के साथ पारिवारिक सम्बन्ध से, तुम सब पाण्डव कृष्ण के प्रति अपार स्नेह से तथा हम सारे सामान्य भक्त अपनी भक्ति से कृष्ण की कृपा को प्राप्त कर सके हैं।

तात्पर्य : विभिन्न प्रकार के लोग अपनी निजी प्रबल इच्छाओं के अनुसार जिसे भाव कहते हैं विभिन्न प्रकार की मुक्ति प्राप्त करते हैं यथा सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सार्ष्टि। इस प्रकार यहाँ इसका वर्णन किया गया है कि गोपियाँ अपनी काम-वासनाओं के द्वारा भगवान् की सर्वाधिक प्रिय भक्तिनें बन सकीं, क्योंकि उनकी वासनाएँ कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम पर आश्रित थीं। यद्यपि गोपियों ने वृन्दावन में प्रेमिकों के रूप में (परकीया रस) अपनी काम-वासनाओं को प्रकट किया था किन्तु वास्तव में वे काम-वासनाएँ न थीं। आध्यात्मिक प्रगति के लिए यह महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि उनकी इच्छाएँ वासनायुक्त प्रतीत होती थीं, लेकिन वे भौतिक जगत की काम-वासनाएँ न थीं। चैतन्य-चरितामृत में आध्यात्मिक तथा भौतिक जगत की इच्छाओं की तुलना सोने तथा लोहे से की गई है। सोना तथा लोहा दोनों ही धातुएँ हैं, लेकिन उनके मूल्य में महान् अन्तर है। कृष्ण के प्रति गोपियों की काममय इच्छाओं की तुलना सोने से की गई है और भौतिक विषय-वासनाओं की तुलना लोहे से की

गई है।

कंस तथा कृष्ण के अन्य शत्रू ब्रह्म में विलीन हो गये, लेकिन कृष्ण के मित्रों तथा भक्तों को भी वही पद क्यों प्राप्त हो? कृष्ण के भक्त भगवान् के नित्य संगी के रूप में उनका सात्रिध्य या तो वृन्दावन में या वैकुण्ठ लोक में प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार यद्यपि नारद मुनि तीनों लोकों में विचरण करते हैं, किन्तु वे नारायण की उत्तम भक्ति करते हैं (*ऐश्वर्यमान्*)। सारे वृन्दावन में वृष्णियों तथा यदुवों एवं कृष्ण के माता-पिता का कृष्ण से पारिवारिक सम्बन्ध है, लेकिन वृन्दावन में कृष्ण के पोष्य पिता तथा माता वसुदेव तथा देवकी से अधिक श्रेष्ठ हैं।

कतमोऽपि न वेनः स्यात्पञ्चानां पुरुषं प्रति ।

तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णो निवेशयेत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

कतमः अपि—कोई भी; न—नहीं; वेनः—नास्तिक राजा वेन; स्यात्—ग्रहण करेगा; पञ्चानाम्—पाँचों का (जिनका उल्लेख पहले हो चुका है); पुरुषम्—भगवान् के; प्रति—प्रति; तस्मात्—अतएव; केनापि—किसी भी; उपायेन—उपाय से; मनः—मनको; कृष्णो—कृष्ण में; निवेशयेत्—स्थिर करना चाहिये।

मनुष्य को किसी न किसी प्रकार से कृष्ण के स्वरूप पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। तब ऊपर बताई गई पाँच विधियों में से किसी एक के द्वारा वह भगवद्धाम वापस जा सकता है। लेकिन राजा वेन जैसे नास्तिक इन पाँचों विधियों में से किसी एक के द्वारा कृष्ण के स्वरूप का चिन्तन करने में असमर्थ होने से मोक्ष नहीं पा सकते। अतएव मनुष्य को चाहिए कि जैसे भी हो, चाहे मित्र बनकर या शत्रु बनकर, वह भगवान् का चिन्तन करे।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी तथा नास्तिक कृष्ण के स्वरूप को सदैव तोड़ने-मरोड़ने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ तक कि आधुनिक युग के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ तथा दार्शनिक भी *भगवद्गीता* से कृष्ण को विलग करना चाहते हैं। फलस्वरूप ऐसे लोगों के लिए कोई मोक्ष नहीं है। लेकिन कृष्ण के शत्रु सोचते हैं “यह रहा मेरा शत्रु कृष्ण! मुझे उसका वध करना है।” वे कृष्ण का चिन्तन उनके वास्तविक रूप में करते हैं, अतएव उन्हें मोक्ष प्राप्त होता है। अतएव भक्तगण जो कि कृष्ण के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करते हैं, वे तो निश्चित रूप से मुक्ति प्राप्त करते हैं। मायावादी नास्तिकों का एकमात्र धन्धा रह गया है कृष्ण को रूपहीन बनाना। फलस्वरूप कृष्ण के चरणों कमलों में इस घोर अपराध के कारण वे मोक्ष की आशा नहीं कर सकते। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—तेन

शिशुपालादिभिन्नः प्रतिकूलभावं दिधीषुर्येन इव नरकं यातीति भावः । शिशुपाल के अतिरिक्त उन में से किसी को मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता हैं, जो विधि-विधानों के विरोधी है। उन्हें तो नरक मिलना ही होता है। विधि-विधान यही है कि सदैव कृष्ण का चिन्तन करो, चाहे मित्र रूप में हो या शत्रु रूप में।

मातृष्वस्त्रेयो वश्रैद्यो दन्तवक्रश्च पाण्डव ।

पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदच्युतौ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

मातृ-स्वस्त्रेयः—मौसी का पुत्र (शिशुपाल); वः—तुम्हारा; चैद्यः—राजा शिशुपाल; दन्तवक्रः—दन्तवक्र; च—तथा; पाण्डव—हे पाण्डव; पार्षद-प्रवरौ—दोनों श्रेष्ठ पार्षद; विष्णोः—विष्णु के; विप्र—ब्राह्मणों के; शापात्—शाप से; पद—वैकुण्ठ लोक में अपने पद से; च्युतौ—गिरे हुए।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे पाण्डवश्रेष्ठ, तुम्हारी मौसी के दोनों पुत्र तुम्हारे चचेरे भाई शिशुपाल तथा दन्तवक्र पहले भगवान् विष्णु के पार्षद थे, लेकिन ब्राह्मणों के शाप से वे वैकुण्ठ लोक से इस भौतिक जगत में आ गिरे।

तात्पर्य : शिशुपाल तथा दन्तवक्र सामान्य असुर न थे अपितु पहले वे भगवान् विष्णु के निजी पार्षद थे। वे इस भौतिक जगत में पतित हुए, लेकिन वास्तव में वे इस जगत में भगवान् की लीलाओं में सहायता करने आये थे।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच

कीदृशः कस्य वा शापो हरिदासाभिमर्शनः ।

अश्रद्धेय इवाभाति हरेरेकान्तिनां भवः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; कीदृशः—किस प्रकार का; कस्य—किसका; वा—अथवा; शापः—श्राप; हरि-दास—हरि का सेवक; अभिमर्शनः—हरा कर; अश्रद्धेयः—अविश्वसनीय; इव—मानो; आभाति—प्रकट होता है; हरेः—हरि का; एकान्तिनाम्—उनका जो श्रेष्ठ पार्षदों के रूप में अनुरक्त हैं; भवः—जन्म।

महाराज युधिष्ठिर ने पूछा : किस प्रकार के महान् श्राप ने मुक्त विष्णु-भक्तों को भी प्रभावित किया और किस तरह का व्यक्ति भगवान् के भी पार्षदों को श्राप दे सका? भगवान् के दृढ़ भक्तों के लिए इस भौतिक जगत में फिर से आ गिरना असम्भव है। मैं इस पर विश्वास नहीं कर सकता।

तात्पर्य : भगवद्गीता (८.१६) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते—जो भौतिक कल्मष से शुद्ध हो चुका है और भगवद्धाम वापस जा चुका होता है, वह फिर

कभी इस भौतिक जगत में नहीं लौटता। *भगवद्गीता* (४.९) में अन्यत्र कृष्ण कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्या देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

“हे अर्जुन! जो मेरे प्राकट्य तथा मेरे कर्मों की दिव्य प्रकृति को जान लेता है, वह शरीर त्यागने के बाद इस भौतिक जगत में पुनः जन्म धारण नहीं करता, अपितु मेरे नित्य धाम को प्राप्त होता है।” अतएव महाराज युधिष्ठिर आश्चर्यचकित थे कि शुद्ध भक्त इस भौतिक जगत में लौट सकता है—यह निश्चय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम् ।

देहसम्बन्धसम्बद्धमेतदाख्यातुमर्हसि ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

देह—भौतिक शरीर की; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; असु—प्राण; हीनानाम्—जो रहित हैं उनका; वैकुण्ठ-पुर—वैकुण्ठ के; वासिनाम्—निवासियों का; देह-सम्बन्ध—भौतिक शरीर में; सम्बद्धम्—बन्धन; एतत्—यह; आख्यातुम् अर्हसि—कृपया वर्णन करें।

वैकुण्ठवासियों के शरीर पूर्णतया आध्यात्मिक होते हैं, उनको भौतिक शरीर से, इन्द्रियों या प्राण से कुछ लेना-देना नहीं रहता। अतएव कृपा करके बताइये कि किस तरह भगवान् के पार्षदों को सामान्य व्यक्तियों की तरह भौतिक शरीर में अवतरित होने का श्राप दिया गया?

तात्पर्य : इस अति महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर दे पाना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन होगा किन्तु *महाजन* होने के कारण नारद मुनि इसका उत्तर दे सकते थे। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने उनसे यह कहकर—*एतद् आख्यातुम् अर्हसि*—कि आप ही इसका कारण बता सकते हैं, प्रश्न पूछा। प्रामाणिक स्रोतों से पता चल सकता है कि भगवान् विष्णु के जो पार्षद इस वैकुण्ठ लोक से नीचे आते हैं, वे वास्तव में पतित नहीं होते। वे भगवान् की इच्छा पूरी करने के लिए इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं और उनका इस प्रकार का अवतरण भगवान् के ही समान होता है। भगवान् इस भौतिक जगत में अपनी अन्तरंगा शक्ति के माध्यम से आते हैं। इसी प्रकार जब भगवद्भक्त या भगवान् का पार्षद इस जगत में अवतरित होता है, तो वह आध्यात्मिक शक्ति के बल पर ऐसा करता है। भगवान् द्वारा सम्पन्न कोई भी लीला *योगमाया* द्वारा व्यवस्थित की जाती है, *महामाया* द्वारा नहीं। अतएव यह समझना चाहिए कि जब जय तथा विजय इस भौतिक जगत में अवतरित हुए तो वे इसलिए आये, क्योंकि उन्हें भगवान्

के लिये कुछ करना था। अन्यथा यह तथ्य है कि कोई भी वैकुण्ठ से नीचे पतित नहीं होता।

निस्सन्देह, जो जीव सायुज्य मुक्ति का इच्छुक है, वह कृष्ण के ब्रह्मतेज में रहता जाता है, जो कृष्ण के शरीर पर आश्रित है (*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*)। ऐसी निर्विशेषवादी का जो ब्रह्मतेज की शरण ग्रहण करता है पतन अवश्यम्भावी है। इसका उल्लेख शास्त्र (भागवत १०.२.३२) में हुआ है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस् ।

त्वय्यस्तभावाद् अविशुद्धबुद्धयः ।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः

पतन्त्यधोऽनाहतयुस्मदङ्घ्रयः ॥

“हे भगवान्! उनकी बुद्धि अशुद्ध है, जो अपने को मुक्त तो मानते हैं, किन्तु जिनमें भक्ति नहीं होती। भले ही वे कठोर तपस्या द्वारा सर्वोच्च बिन्दु को क्यों न प्राप्त कर लें, वे इस भौतिक जगत में पुनः अवश्य गिरते हैं, क्योंकि वे आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करते।” चूँकि निर्विशेषवादी भगवान् का पार्षद बनने वैकुण्ठ लोक तक नहीं पहुँच पाते, अतएव उनकी इच्छाओं के अनुसार कृष्ण उन्हें सायुज्य मुक्ति प्रदान करते हैं। फिर भी, चूँकि सायुज्य मुक्ति अधूरी मुक्ति है, अतएव वे इस जगत में फिर आ गिरते हैं। जब यह कहा जाता है कि कोई जीवात्मा ब्रह्मलोक से च्युत होता है, तो यह निर्विशेषवादी पर लागू होता है।

प्रामाणिक स्रोतों से पता चलता है कि जय-विजय को इस भौतिक जगत में भगवान् की युद्ध करने की इच्छा-पूर्ति के लिये भेजा गया था। भगवान् को भी कभी-कभी युद्ध करने की इच्छा होती है, किन्तु भगवान् के परम विश्वसनीय भक्त के अतिरिक्त उनसे कौन युद्ध कर सकता है? जय-विजय भगवान् की इच्छा-पूर्ति के लिये ही इस जगत में अवतरित हुए। अतएव उनके तीनों जन्मों में सर्वप्रथम हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु के रूप में, फिर रावण तथा कुम्भकर्ण के रूप में और अन्त में शिशुपाल तथा दन्तवक्र के रूप में उन्हें भगवान् ने अपने हाथों से मारा। दूसरे शब्दों में, जय-विजय नामक भगवान् के पार्षद भगवान् की युद्ध करने की इच्छा पूरी करने के लिए इस भौतिक जगत में अवतरित हुए। अन्यथा जैसाकि महाराज युधिष्ठिर कहते हैं— *अश्रद्धेय इवाभाति*—कि भगवान् का दास वैकुण्ठ से नीचे गिरता है अविश्वसनीय प्रतीत होता है। इस जगत में जय-विजय किस प्रकार आये इसकी

विवेचना नारद मुनि द्वारा आगे की गई है।

श्रीनारद उवाच

एकदा ब्रह्मणः पुत्रा विष्णुलोकं यदृच्छया ।
सनन्दनादयो जग्मुश्चरन्तो भुवनत्रयम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; एकदा—एक बार; ब्रह्मणः—ब्रह्माजी के; पुत्राः—पुत्र; विष्णु—भगवान् विष्णु के; लोकम्—लोक में; यदृच्छया—संयोगवश; सनन्दन-आदयः—सनन्दन तथा अन्य; जग्मुः—गये; चरन्तः—विचरण करते; भुवन-त्रयम्—तीनों लोकों में।

परम साधु नारद ने कहा—एक बार ब्रह्मा के चारों पुत्र जिनके नाम सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार हैं, तीनों लोकों का विचरण करते हुए संयोगवश विष्णुलोक में आये।

पञ्चषट्क्यायनार्भाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः ।

दिग्वाससः शिशून्मत्वा द्वाःस्थौ तान्प्रत्यषेधताम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

पञ्च-षट्-धा—पाँच या छः वर्ष; आयन—लगभग; अर्ध-आभाः—बालकों जैसे; पूर्वेषाम्—ब्रह्माण्ड के पुराने लोग (मरीचि तथा अन्य); अपि—यद्यपि; पूर्व-जाः—पहले उत्पन्न; दिक्-वाससः—नंगे होने से; शिशून्—बच्चे; मत्वा—सोचकर; द्वाः-स्थौ—दो द्वारपालों, जय तथा विजय ने; तान्—उनको; प्रत्यषेधताम्—मना किया।

यद्यपि ये चारों महर्षि मरीचि आदि ब्रह्मा के अन्य पुत्रों की अपेक्षा बड़े थे, किन्तु वे पाँच या छः वर्ष के छोटे-छोटे नंगे बच्चों जैसे प्रतीत हो रहे थे। जय तथा विजय नामक इन द्वारपालों ने जब उन्हें वैकुण्ठलोक में प्रवेश करने का प्रयास करते देखा तो सामान्य बच्चे समझ कर उन्हें प्रवेश करने से मना कर दिया।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य अपने ग्रंथ *तन्त्र सार* में कहते हैं—

द्वाःस्थावित्यनेनाधिकार-स्थत्वमुक्तम्-

अधिकारस्थिताश्चैव विमुक्तश्च द्विधा जनाः ।

विष्णुलोकस्थितास्तेषां वरशापादियोगिनः ॥

अधिकारस्थितां मुक्तिं नियतं प्राप्नुवन्ति च ।

विमुक्त्यनन्तरं तेषां वर शापादयो ननु ॥

देहेन्द्रियासुयुक्तश्च पूर्व पश्चात्र तैर्युताः ।

अप्यभिमानिभिस्तेषां देवै स्वात्मोत्तमैर्युताः ॥

सारांश यह है कि वैकुण्ठलोक में भगवान् विष्णु के निजी पार्षद सदैव मुक्तात्माएँ हैं। यदि कभी उन्हें वर प्राप्त होता है या शाप दिया जाता है, तो भी वे सदैव मुक्त रहते हैं और वे प्रकृति के भौतिक गुणों से कभी कलुषित नहीं होते। वैकुण्ठलोक में मुक्ति के पूर्व उन्हें भौतिक शरीर प्राप्त थे, किन्तु एक बार वैकुण्ठलोक आ जाने पर उनके वे शरीर नहीं रहे। अतएव भगवान् विष्णु के पार्षदों को यदि कभी शापवश अवतरित होना पड़ता है, तो भी वे सदैव मुक्त रहते हैं।

अशपन्कुपिता एवं युवां वासं न चार्हथः ।

रजस्तमोभ्यां रहिते पादमूले मधुद्विषः ।

पापिष्ठामासुरीं योनिं बालिशौ यातमाश्रतः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अशपन्—शाप दिया; कुपिता:—क्रोध से भर कर; एवम्—इस प्रकार; युवाम्—तुम दोनों; वासम्—निवास स्थान; न—नहीं; च—तथा; अर्हथः—योग्य हो; रजः—तमोभ्याम्—रजो तथा तमो गुणों से; रहिते—रहित; पाद-मूले—चरण कमलों पर; मधु-द्विषः—मधु असुर का वध करने वाले विष्णु के; पापिष्ठाम्—अत्यन्त पापी; आसुरीम्—आसुरी; योनिम्—योनि में, गर्भ में; बालिशौ—अरे तुम दोनों मूर्ख; यातम्—जाओ; आशु—शीघ्र; अतः—इसलिए।

जय तथा विजय नामक द्वारपालों द्वारा इस प्रकार रोके जाने पर सनन्दन तथा अन्य मुनियों ने क्रोधपूर्वक उन्हें श्राप दे दिया। उन्होंने कहा—“अरे दोनों मूर्ख द्वारपालों, तुम रजो तथा तमो गुणों से क्षुभित होने के कारण मधुद्विष के चरण-कमलों की शरण में रहने के अयोग्य हो, क्योंकि वे ऐसे गुणों से रहित हैं। तुम्हारे लिए श्रेयस्कर होगा कि तुरन्त ही भौतिक जगत में जाओ और अत्यन्त पापी असुरों के परिवार में जन्म ग्रहण करो।”

एवं शप्तौ स्वभवनात्पतन्तौ तौ कृपालुभिः ।

प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वा त्रिभिर्लोकाय कल्पताम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; शप्तौ—शापित होकर; स्व-भवनात्—अपने निवास वैकुण्ठ से; पतन्तौ—गिरते हुए; तौ—वे दोनों (जय तथा विजय); कृपालुभिः—दयालु मुनियों (सनन्दन आदि) द्वारा.); प्रोक्तौ—सम्बोधित किये; पुनः—फिर; जन्मभिः—जन्मों से; वाम्—तुम्हारे; त्रिभिः—तीन; लोकाय—पद के लिए; कल्पताम्—सम्भव हो।

मुनियों द्वारा इस प्रकार शापित होकर जब जय तथा विजय भौतिक जगत में गिर रहे थे तो उन मुनियों ने उन पर दया करके इस प्रकार सम्बोधित किया, “हे द्वारपालो, तुम तीन जन्मों के बाद वैकुण्ठलोक में अपने-अपने पदों पर लौट सकोगे, क्योंकि तब श्राप की अवधि समाप्त हो चुकी होगी।”

जज्ञाते तौ दितेः पुत्रौ दैत्यदानववन्दितौ ।
हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

जज्ञाते—उत्पन्न हुए; तौ—वे दोनों; दितेः—दिति के; पुत्रौ—दो पुत्र; दैत्य-दानव—समस्त असुरों से; वन्दितौ—पूजित;
हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; ज्येष्ठः—बड़ा; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष; अनुजः—छोटा; ततः—तत्पश्चात्।

भगवान् के ये दोनों पार्षद, जय तथा विजय, बाद में दिति के दो पुत्रों के रूप में जन्म लेकर इस भौतिक जगत में अवतरित हुए। इनमें हिरण्यकशिपु बड़ा और हिरण्याक्ष छोटा था। सारे दैत्यों तथा दानवों (आसुरी योनियाँ) द्वारा दोनों का अत्यधिक सम्मान किया जाता था।

हतो हिरण्यकशिपुर्हरिणा सिंहरूपिणा ।
हिरण्याक्षो धरोद्भारे बिभ्रता शौकरं वपुः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

हतः—मारा गया; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; हरिणा—हरि या विष्णु द्वारा; सिंह-रूपिणा—शेर के (भगवान् नृसिंह के) रूप में; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष; धरा-उद्भारे—पृथ्वी उठाने के लिए; बिभ्रता—धारण करके; शौकरम्—सूकर जैसा; वपुः—स्वरूप।

भगवान् श्री हरि ने नृसिंह देव के रूप में प्रकट होकर हिरण्यकशिपु का वध किया। जब भगवान् गर्भोदक सागर में गिरी हुई पृथ्वी का उद्धार कर रहे थे तो हिरण्याक्ष ने उन्हें रोकने का प्रयत्न किया और बाद में भगवान् ने वराह के रूप में हिरण्याक्ष का वध कर दिया।

हिरण्यकशिपुः पुत्रं प्रह्लादं केशवप्रियम् ।
जिघांसुरकरोन्नाना यातना मृत्युहेतवे ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; पुत्रम्—पुत्र; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज को; केशव-प्रियम्—केशव का प्रिय भक्त; जिघांसुः—मारने की इच्छा से; अकरोत्—किया; नाना—विविध; यातनाः—यातनाएँ; मृत्यु—मृत्यु; हेतवे—के हेतु।

हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को, जो भगवान् विष्णु का महान् भक्त था, मारने के लिए नाना प्रकार के कष्ट दिये।

तं सर्वभूतात्मभूतं प्रशान्तं समदर्शनम् ।
भगवत्तेजसा स्पृष्टं नाशक्नोद्धन्तुमुद्यमैः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; सर्व-भूत-आत्म-भूतम्—समस्त जीवों में आत्मा; प्रशान्तम्—शान्त किन्तु घृणा आदि से रहित.; सम-दर्शनम्—समदर्शी; भगवत्-तेजसा—भगवान् की शक्ति से; स्पृष्टम्—सुरक्षित; न—नहीं; अशक्नोत्—समर्थ हुआ; हन्तुम्—मारने में; उद्यमैः—महान् प्रयत्नों तथा विविध अस्त्रों के द्वारा।

समस्त जीवों के परमात्मा भगवान् गम्भीर शान्त तथा समदर्शी हैं। चूँकि महान् भक्त प्रह्लाद भगवान् की शक्ति द्वारा सुरक्षित था, अतएव हिरण्यकशिपु नाना प्रकार के यत्न करने पर भी उसे मारने में असमर्थ रहा।

तात्पर्य : इस श्लोक में सर्वभूतात्मभूतम् शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति—भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में समान भाव से स्थित हैं। अतएव न उनका किसी से द्वेष है, न मित्रता। उनके लिए सभी समान हैं। यद्यपि कभी-कभी वे किसी को दण्ड देते पाये जाते हैं, किन्तु यह वैसे ही है जैसे कि बच्चे के कल्याण के लिए पिता बच्चे को दण्ड देता है। भगवान्-प्रदत्त दण्ड भगवान् की समदर्शिता का सूचक है। अतएव भगवान् को प्रशान्तं समदर्शनम् कहा गया है। यद्यपि भगवान् को अपनी इच्छा की पूर्ति ठीक से करनी होती है, तो भी वे सभी परिस्थितियों में समभाव बने रहते हैं। वे सबके प्रति समदर्शी हैं।

ततस्तौ राक्षसौ जातौ केशिन्यां विश्रवःसुतौ ।
रावणः कुम्भकर्णश्च सर्वलोकोपतापनौ ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; तौ—दोनों द्वारपाल (जय तथा विजय); राक्षसौ—असुर; जातौ—उत्पन्न; केशिन्याम्—केशिनी के गर्भ से; विश्रवः-सुतौ—विश्रवा के पुत्र; रावणः—रावण; कुम्भकर्णः—कुम्भकर्ण; च—तथा; सर्व-लोक—सभी लोगों को; उपतापनौ—कष्ट देने वाले।

तत्पश्चात् भगवान् विष्णु के दोनों द्वारपाल जय तथा विजय रावण तथा कुम्भकर्ण के रूप में विश्रवा द्वारा केशिनी के गर्भ से उत्पन्न किए गये। वे ब्रह्माण्ड के समस्त लोगों को अत्यधिक कष्टप्रद थे।

तत्रापि राघवो भूत्वा न्यहनच्छापमुक्तये ।
रामवीर्यं श्रोष्यसि त्वं मार्कण्डेयमुखात्प्रभो ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—तत्पश्चात्; राघवः—भगवान् रामचन्द्र के रूप में; भूत्वा—प्रकट होकर; न्यहनत्—वध किया; शाप-मुक्तये—शाप-मुक्त करने के लिए; राम-वीर्यम्—भगवान् राम का पराक्रम; श्रोष्यसि—सुनोगे; त्वम्—तुम; मार्कण्डेय-मुखात्—ऋषि मार्कण्डेय के मुख से; प्रभो—हे प्रभु।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजा, जय तथा विजय को ब्राह्मणों के शाप से मुक्त करने के

लिए भगवान् रामचन्द्र रावण तथा कुम्भकर्ण का वध करने के लिए प्रकट हुए। अच्छा होगा कि तुम भगवान् रामचन्द्र के कार्यकलापों के विषय में मार्कण्डेय से सुनो।

तावत्र क्षत्रियौ जातौ मातृष्वस्रात्मजौ तव ।
अधुना शापनिर्मुक्तौ कृष्णचक्रहतांहसौ ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तौ—दोनों; अत्र—यहाँ, तीसरे जन्म में; क्षत्रियौ—क्षत्रिय अथवा राजा; जातौ—उत्पन्न; मातृ-स्वसृ-आत्म-जौ—मौसी के पुत्र; तव—तुम्हारी; अधुना—अब; शाप-निर्मुक्तौ—शाप से मुक्त; कृष्ण-चक्र—कृष्ण के चक्र द्वारा; हत—विनष्ट; अंहसौ—जिसके पाप।

तीसरे जन्म में वही जय तथा विजय क्षत्रियों के कुल में तुम्हारी मौसी के पुत्रों के रूप में तुम्हारे मौसरे भाई बने हैं। चूँकि भगवान् कृष्ण ने उनका वध अपने चक्र से किया है, अतएव उनके सारे पाप नष्ट हो चुके हैं और अब वे शाप से मुक्त हैं।

तात्पर्य : अपने अन्तिम जन्म में जय तथा विजय राक्षस नहीं बने, अपितु उन्होंने सुप्रसिद्ध क्षत्रिय कुल में जन्म लिया जिसका सम्बन्ध कृष्ण के परिवार से था। वे भगवान् कृष्ण के मौसरे भाई बने और लगभग उन्हीं के समान पद पर थे। भगवान् ने स्वयं अपने चक्र द्वारा उन्हें मार कर ब्राह्मणों के शाप से बचे हुए पापों को भी नष्ट कर दिया। नारद मुनि ने महाराज युधिष्ठिर को बताया कि शिशुपाल भगवान् कृष्ण के शरीर में प्रवेश करके उनके पार्षद के रूप में पुनः वैकुण्ठ लोक में प्रविष्ट हुआ। इस घटना को सबों ने देखा था।

वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम् ।
नीतौ पुनर्हरिः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

वैर-अनुबन्ध—घृणा का बन्धन; तीव्रेण—तीव्र; ध्यानेन—ध्यान से; अच्युत-सात्मताम्—अच्युत भगवान् के तेज को; नीतौ—प्राप्त किया; पुनः—फिर; हरिः—हरि का; पार्श्वम्—सान्निध्य; जग्मतुः—वे पहुँचे; विष्णु-पार्षदौ—भगवान् विष्णु के द्वारपाल पार्षद।

भगवान् विष्णु के ये दोनों पार्षद, जय तथा विजय, दीर्घकाल तक शत्रुता का भाव बनाये रहे। इस प्रकार कृष्ण के विषय में सदैव चिन्तन करते रहने से भगवद्धाम जाने पर उन्हें पुनः भगवान् की शरण प्राप्त हो गई।

तात्पर्य : जय-विजय चाहे जिस अवस्था में रहे हों, किन्तु वे सदैव कृष्ण का स्मरण करते रहे।

अतएव मौषल लीला के अन्त में ये दोनों पार्षद कृष्ण के पास लौट गये। कृष्ण के शरीर तथा नारायण के शरीर में कोई अन्तर नहीं है। अतएव देखने में यद्यपि वे कृष्ण के शरीर में प्रविष्ट हुए किन्तु वास्तव में वे विष्णु के द्वारपालों के रूप में वैकुण्ठ लोक में पुनः प्रविष्ट हुए। वे कृष्ण के शरीर से होकर वैकुण्ठ लोक लौटे, यद्यपि ऐसा प्रतीत हुआ कि उन्हें कृष्ण के शरीर में सायुज्य मुक्ति प्राप्त हुई।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच

विद्वेषो दयिते पुत्रे कथमासीन्महात्मनि ।

ब्रूहि मे भगवन्त्येन प्रह्लादस्याच्युतात्मता ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; विद्वेषः—घृणा, द्वेष; दयिते—अपने प्रिय; पुत्रे—पुत्र के लिए; कथम्—किस प्रकार; आसीत्—था; महा-आत्मनि—महान् आत्मा, प्रह्लाद; ब्रूहि—कृपया कहें; मे—मुझे; भगवन्—हे श्रेष्ठ मुनि; येन—जिससे; प्रह्लादस्य—प्रह्लाद महाराज की; अच्युत—अच्युत से; आत्मता—आत्मीयता, अत्यधिक आसक्ति।

महाराज युधिष्ठिर ने पूछा : हे नारद मुनि, हिरण्यकशिपु तथा उसके प्रिय पुत्र प्रह्लाद महाराज के बीच ऐसी शत्रुता क्यों थी? प्रह्लाद महाराज भगवान् कृष्ण के इतने बड़े भक्त कैसे बने? कृपया यह मुझे बतायें।

तात्पर्य : कृष्ण के सारे भक्त अच्युतात्मा कहलाते हैं, क्योंकि वे प्रह्लाद महाराज के पदचिह्नों पर चलते हैं। अच्युत का अर्थ है कभी चूक न करने वाले भगवान् विष्णु, क्योंकि उनका हृदय सदैव अच्युत है। चूँकि भक्तगण अच्युत से जुड़े होते हैं, अतएव वे अच्युतात्मा कहलाते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत “समदर्शी भगवान्” नामक प्रथम अध्याय के भक्ति वेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।